ik< f'k{kk

जनवरी–मार्च 2018
वर्ष 62 अंक–1

lEikndh; e.My

प्रो. भवानीशंकर गर्ग
(सरंक्षक)

श्री मृणाल पंत
श्री ए.एच.खान
डा. सरोज गर्ग
श्री दुर्लभ चेतिया
डा. डी.के.वर्मा
डा. उषा राय
डा. मदन सिंह
श्री एस.सी. खंडेलवाल
श्री राजेन्द्र जोशी

i/kku lEikndh
श्री कैलाश चौधरी

lEikndh
डा. मदन सिंह

lgk;d lEikndh
बी. संजय

bl vad esa

सम्पादकीय

लैंगिक असमानता से संघर्षरत् महिला
–वीरेन्द्र जैन 5

मानव अधिकार के रूप में अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य और दायित्व के सरोकार
– गिरीशवर मिश्र 17

बापू
– सेजल पटेल 23

एजेंडा 2030 और भारत 24

सहृदयता – प्रेरक प्रसंग 29

उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र
–पॉलो फ्रेरे 30

प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना : एक नज़र
–राजेश अग्रवाल 45

हमारे लेखक 16

eY;k : i;k 200@&okf"kd

if=dk esa 0;Dr ykdk dh fopkj mudh o;fDrd fopkj gS] ftudh fy, lk?k ,oa lEikndh dh lgefr vfuok;Z ugha gS A

IIALE
Program Study Centre 29049(P)

International Institute of Adult and Lifelong Education (IIALE) is study centre for Indira Gandhi National Open University (IGNOU) (Centre Code: 29049P) which will function from 17-B, I P Estate, New Delhi – 110 002. The Centre will start function soon and the courses to be offered are:

1. Master of Arts in Adult Education (MAAE)
2. Post-Graduate Diploma in Adult Education (PGDAE)
3. Post Graduate Certificate in Adult Education (PGCAE)

Students interested to enroll themselves for the above courses can contact the Programme In-charge Smt. Kalpana Kaushik on the following address:

International Institute of Adult and Lifelong Education (IIALE)
C/o Indian Adult Education Association
17-B, Indraprastha Estate, New Delhi – 110 002
Phone Nos. 91-11-23379306, 23378436, 23379282

प्रौढ़ शिक्षा के लिए लेख आमंत्रित हैं

त्रैमासिक पत्रिका 'प्रौढ़ शिक्षा' (ISSN 2231-2439) प्रौढ़ एवं आजीवन शिक्षा क्षेत्र की एक प्रतिनिधि पत्रिका है जिसका प्रकाशन भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ, नई दिल्ली द्वारा किया जाता है। विगत 60 वर्षों से यह पत्रिका नियमितरूप से प्रकाशित हो रही है।

स्वतंत्र लेखकों, पत्रकारों, प्राध्यापकों, शोध छात्रों एवं प्रौढ़ तथा आजीवन शिक्षा क्षेत्र से जुड़े प्रशासनिक अधिकारियों तथा अन्य सभी बुद्धिजीवियों से आग्रह है कि वे इस पत्रिका हेतु शिक्षा, प्रौढ़ एवं आजीवन शिक्षा, सामुदायिक शिक्षा, स्वयंसेवी प्रयास, महिला सशक्तीकरण, विकास, कौशल विकास, पर्यावरण, स्वास्थ्य, बाल विकास, सामाजिक समता, आर्थिक सशक्तीकरण जैसे तमाम विषयों पर अपने मौलिक लेख, शोध पत्र, संस्मरण, घटना वृतांत, कहानियां एवं कविताएं प्रेषित करें।

लेख एवं शोध न्यूनतम 3000 से 5000 शब्दों के हो सकते हैं। लेखक अपनी रचनाएं हिन्दी के कृतिदेव 10 फोंट में टाईप कर उसकी ओपन फाईल directoriaea@gmail.com पर मेल कर सकते हैं।

lEikndh;

ikFkfed f'k{kk dh xq.koÙkk ij loky [kM+k djrh u'kuy ,phoeVl lo ,o vlj fjikVZ

कई दशकों के लगातार संगठित प्रयासों के परिणामस्वरूप सन् 2009 में भारतीय संसद ने शिक्षा का अधिकार अधिनियम पारित कर देश में छह से चौदह साल के सभी बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने की संवैधानिक व्यवस्था को लागू कर दिया। अधिनियम सन् 2010 में क्रियान्वित हुआ जिसके अब आठ साल पूरे हो रहे हैं। स्पष्ट है कि इस अधिनियम के प्रभाव में आने के उपरांत पहली कक्षा में प्रवेश पाने वाले विद्यार्थी आठ साल की अपनी पढ़ाई पूरी कर नौवीं कक्षा में प्रवेश पाने को हैं। निश्चित ही यह शिक्षा अधिकार अधिनियम की उपलब्धियों के समुचित आंकलन का उपयुक्त समय है।

ज्ञात है कि प्राथमिक शिक्षा की वर्तमान स्थिति पर इस वर्ष दो महत्वपूर्ण रिपोर्ट प्रकाशित हुई हैं – पहला, नेशनल एचीवमेंट सर्वे जो 15 जनवरी 2018 को प्रकाशित की गई तथा दूसरा, एनुअल स्टेटस ऑफ एजूकेशन रिपोर्ट (असर) जो गत 16 जनवरी 2018 को प्रकाशित की गई।

असर ग्रामीण भारत के स्कूलों के बच्चों के नामांकन और उनकी शैक्षणिक प्रगति पर किया जाने वाला देश का सबसे बड़ा वार्षिक सर्वेक्षण है। स्वयंसेवी संस्था 'प्रथम' के सहयोग से जिला स्तर पर स्थानीय संस्थाओं से जुड़े कार्यकर्ताओं के जरिए इस बार देश के चौबीस राज्यों के अट्ठाईस जिलों मे चौदह से अठारह वर्ष के किशोरों के बीच कराए गए इस सर्वेक्षण में देश के 1641 गांवों के पच्चीस हजार से अधिक घरों में रहने वाले करीबन तीस हजार से ज्यादा किशोरों को शामिल किया गया।

नेशनल एचीवमेंट सर्वे एनसीईआरटी द्वारा संचालित किया गया जिसके तहत देश के सभी 36 राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों के 700 जिलों से चयनित कुल 1,10,000 सरकारी एवं सरकारी अनुदान प्राप्त विद्यालयों के कक्षा तीसरी, पांचवीं और आठवीं के 25 लाख छात्रों को शामिल किया गया।

दोनों ही रिपोर्टों ने देश में प्राथमिक शिक्षा की गुणवत्ता पर सवाल खडे किए हैं। असर रिपोर्ट के अनुसार चौदह फीसदी किशोरों को भारत के मानचित्र की सही जानकारी नहीं है, जबकि इक्कीस फीसदी को अपने राज्य का नाम भी नहीं पता है। छतीस फीसदी किशोर ऐसे हैं जिन्हें देश की राजधानी कहां है यह मालूम नही हैं, जबकि साठ फीसदी ग्रामीण युवा कंप्यूटर–इंटरनेट के मामले में अब तक निरक्षर हैं। सर्वेक्षण में किशोरों से सामान्य ज्ञान, अंकगणितीय कौशल और दैनिक जीवन से जुड़े प्रश्न भी पूछे गए। सर्वे में शामिल किए गए युवाओं में से करीब पच्चीस फीसद ऐसे हैं जो अपनी भाषा में एक सरल पाठ को धाराप्रवाह रूप में नहीं पढ़ सकते। इसके अलावा आधे से ज्यादा युवा ऐसे हैं जिन्हें गुणा–भाग करने में कठिनाई होती है।

प्रश्न उठता है कि तमाम प्रयासों के वाबजूद प्राथमिक स्तर पर शिक्षा की गुणवत्ता सुनिशिचित क्यों नहीं हो पा रही है। शिक्षा क्षेत्र के जानकारों का मानना है कि विद्यालयों में छात्र और शिक्षक के निर्धारित अनुपात (40:1) को हासिल न किया जाना ही इसका प्रमुख कारण है। केन्द्र एवं राज्य सरकारों द्वारा लगातार किए जा रहे वादों के वाबजूद शिक्षकों के रिक्त पदों को भरने में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई है। देश को अब भी नौ लाख शिक्षकों की जरूरत है। कई राज्यों में शिक्षकों की नियुक्तियां अटकी हुई हैं, जिसे भरने में राज्य सरकारें ढुलमुल रवैया अपनाती है। सरकार ने छात्र और शिक्षक का अनुपात 40:1 निर्धारित किया हुआ है, लेकिन कई सरकारी स्कूलों में यह अनुपात अत्यंत चिंताजनक है। अमूमन विद्यालयों में जरूरत भर के शिक्षक नहीं हैं। शिक्षकों का विद्यालय नहीं पहुंचना तथा गैर–शैक्षणिक कार्यों को शिक्षक के कंधे पर डालना भी एक प्रमुख समस्या रही है। यह भी गौरतलब है कि प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में बड़ी संख्या में अप्रशिक्षित शिक्षक कार्यरत हैं।

सवाल है कि अगर शिक्षक ही समुचित रुप से प्रशिक्षित नहीं है तो वे बच्चों को किस प्रकार गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करेंगे।

यह प्रशंसनीय है कि सरकार ने सेवाकालीन अप्रशिक्षित शिक्षकों को प्रशिक्षण प्रदान करने हेतु नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ ओपन स्कूलिंग (एनआईओएस) के एक उत्कृष्ट कार्यक्रम प्रारंभिक शिक्षा में डिप्लोमा (डी.एल.एड) की शुरूआत की है। सभी सरकारी/सरकारी सहायता प्राप्त/निजी सहायता रहित मान्यता प्राप्त प्राथमिक स्कूलों के समस्त सेवाकालीन अप्रशिक्षित शिक्षकों के लिए तैयार किए गए इस शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम के तहत अब तक लगभग 15 लाख शिक्षकों को नामांकित किया गया है। स्पष्ट है कि 31 मार्च 2019 तक लगभग 15 लाख अप्रशिक्षित शिक्षकों को प्रशिक्षण पाठ्यक्रम के सफल समापन के बाद डिप्लोमा की डिग्री मिल जाएगी।

प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर गुणवत्ता सुनिशिचित करने की दिशा में निशिचित ही यह बड़ा कदम साबित होगा। पर इसके साथ ही साथ सदियों पुरानी रटंत प्रणाली से मुक्ति, स्कूलों में प्रयोगशालाओं एवं पुस्तकालयों की समुचित व्यवस्था, प्राथमिक कक्षाओं में शिक्षण के लिए शिक्षकों को तैयार करने के लिए जिम्मेदार संस्था 'डायट' के पाठयक्रमों में समयानुकूल परिवर्तन तथा उन सभी उपायों पर ध्यान देना होगा जिससे ड्रापआउट को रोका जा सके तथा छात्रों को हर हाल में विद्यालय से जोड़ा जा सके।

– बी. संजय

ylfxd vlekurk l lf?k"kjr efgyk

& ohjUnz tkU

अद्यतन भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति अच्छी नहीं है। भारत की जनसंख्या में पुरुष और महिलाओं का लिंग अनुपात बदल रहा है और यह धीरे–धीरे महिलाओं के प्रतिकूल होता जा रहा है। परिवार और समाज के लिए भारतीय महिलाओं का योगदान सदा से ही महत्वपूर्ण रहा है। बावजूद इसके वे तरह–तरह के सामाजिक विसंगतियों एवं असमानताओं को लगातार झेलने के लिए विवश होती हैं। महिलाओं को प्रमुखता प्रदान किए जाने तथा उनके प्रति समानता पूर्ण दृष्टिकोण अपनाए जाने संबंधित तमाम घोषणाएं भारत में महिलाओं की स्थिति का मात्र आंशिक चित्रण ही प्रस्तुत करती हैं।

वर्तमान में महिलाओं पर अत्याचार की घटनाओं में मानो उफान सा आ गया है। ऐसा कोई दिन नहीं बीतता जब देश के कई कोनों से महिलाओं पर अत्याचार की घटनाओं की खबर न आती हों। अत्याचार भी एक से बढ़कर एक दरिंदगी और हैवानियत की हद पार करते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं जिसमें बलात्कार विशेषतः सामूहिक बलात्कार उल्लेखनीय हैं। भारतीय इतिहास का कोई भी दौर शायद ही इतना निकृष्ट और बर्बर घटनाओं का साक्षी रहा होगा।

प्राचीन भारत में महिलाओं को जीवन के सभी क्षेत्रों में पुरुषों के साथ बराबरी का दर्जा हासिल था। हालांकि कुछ अन्य विद्वानों का नज़रिया इसके विपरीत है। कात्यायन[1] और पतंजलि[2] जैसे प्राचीन भारतीय व्याकरणविदों का कहना है कि प्रारम्भिक वैदिक काल में महिलाओं को शिक्षा दी जाती थी। ऋग्वैदिक ऋचाएँ यह बताती हैं कि महिलाओं की शादी एक परिपक्व उम्र में होती थी, संभवतः उन्हें अपना पति चुनने की भी आजादी थी। ऋग्वेद और उपनिषद् जैसे ग्रंथ कई महिला साधवियों और संतों के बारे में बताते हैं, जिनमें विश्वंभरा, अपाला, होमशा, शाश्वती, घोषा, गार्गी और मैत्रेयी के नाम उल्लेखनीय हैं।[3]

प्राचीन भारत के कुछ साम्राज्यों में नगरवधु (नगर की दुल्हन) जैसी परंपराएँ मौजूद थीं। महिलाओं में नगरवधु के प्रतिष्ठित सम्मान के लिये प्रतियोगिता होती थी। आम्रपाली नगरवधु का सबसे प्रसिद्ध उदाहरण रही है।

अध्ययनों के अनुसार प्रारंभिक वैदिक काल में महिलाओं को बराबरी का दर्जा और अधिकार मिलता था। हालांकि बाद में लगभग 500 ईसा पूर्व में, स्मृतियों, विशेषकर मनुस्मृति

में उल्लेख है कि महिलाओं की स्थिति में गिरावट आनी शुरु हो गयी। 200 ई. पू. से 500 ई. में बालिकाओं के लिए विवाह की उम्र को कम करके 12 वर्ष कर दिया और स्त्रियों के लिए वेदाध्ययन को निषेध कर दिया। इससे उनकी शिक्षा पर प्रबल आघात पहुँचा।''[4] उसके बाद बाबर एवं मुगल साम्राज्य के इस्लामी आक्रमण के साथ पर्दा प्रथा और इसके बाद ईसाइयत ने महिलाओं की आजादी और अधिकारों को सीमित कर दिया।[5]

हालांकि जैनधर्म जैसे सुधारवादी आंदोलनों में महिलाओं को धार्मिक अनुष्ठानों में शामिल होने की अनुमति दी गयी है, तथा स्त्री पुरूष के लिए कुछ कार्य दैनिक कर्तव्य के रूप में निर्धारित किए गए हैं।[6] भारत में महिलाओं को कमोबेश दासता और बंदिशों का ही सामना करना पड़ा है। माना जाता है कि बाल विवाह की प्रथा छठी शताब्दी के आसपास शुरु हुई थी।[7] आज की घटनाएं यथा दहेज़ के लिए महिलाओं की हत्याएं, विविध प्रकार के घरेलु अत्याचार, उनकी पढ़ाई या भविष्य के बारे में ज्यादा ध्यान न देना, जल्दी शादी इत्यादि अनेक समस्याएं महिलाओं की लगातार गिरती स्थिति को और ख़राब बनाती जा रही हैं। यह अक्सर देखा गया है कि महिलाओं के साथ भेद–भाव की शुरुआत बचपन से ही हो जाती है। अपने पति पर निर्भरता ही भारतीय समाज में ज्यादातर महिलाओं का भाग्य बन जाता है। काम करना, खाना खाना, उत्तरदायित्वों का निर्वहन और सामाजिक गतिविधियों के वितरण के रूप में अक्सर उनके साथ भेद–भाव किया जाता रहा है। भारतीय समाज में लड़कियां कमजोर, अबला और बोझ समझी जाती हैं और इस तरह की मानसिकता ही उनके विकास में बाधक है। नारी की स्थिति, दीनदशा को देखकर भारतीय कवि मैथिलीशरण गुप्त लिखते हैं –

हाय री! अबला तेरी अजब कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में है पानी।। [8]

हम यह मानकर भी संतुष्ट नहीं हो सकते हैं कि शिक्षित महिलाएं लैंगिक भेद का सामना नहीं करती। वास्तविकता तो यह है कि दुनियां की आधी आबादी अर्थात् महिलाएं अपने साथ होने वाले अन्याय को मौन रहते हुए झेलने के लिए बाध्य हैं? 'प्रोसेस ऑफ द वर्ल्ड वीमेन : इन परसूट ऑफ जस्टिस रिपोर्ट [9] में महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों का ब्यौरा दिया गया है। इस रिपोर्ट के अनुसार, दुनियां भर की महिलाएं घरेलू हिंसा से जूझ रही हैं, जबकि 125 देशों में इनसे निपटने के पर्याप्त कानून भी हैं। दुनियां भर के लगभग 53 फीसदी महिलाएं नाजुक हालात में काम करने को विवश हैं। 115 देशों में समान वेतन का कानून होने के बावजूद महिलाओं एवं पुरूषों के वेतन में लगभग 10 से 30 फीसदी का अंतर है। 127 देशों में पति द्वारा किए जाने वाले रेप को अपराध नहीं माना जाता। 61 फीसदी देशों में महिलाओं के गर्भपात के अधिकार पर पाबंदी है। 50 देशों में महिलाओं की शादी की कानूनन उम्र पुरूष की तुलना में काफी कम पाई जाती है। महिलाओं को घरेलू हिंसा व लैंगिक भेदभाव के

खिलाफ कानून होने के बाबजूद न्याय न मिलने जैसी परेशानियों से जूझना पड़ता है। भारत के संदर्भ में यह तस्वीर और भी बदरंग है। देश में 39 फीसदी लोगों को पत्नी की पिटाई में कुछ गलत नजर नहीं आता। 15–49 आयु वर्ग की 63 फीसदी महिलाओं का मानना है कि रोजमर्रा के पारिवारिक फैसलों में उनकी राय शामिल नहीं होती। भारत में तकरीबन 70 फीसदी महिलाओं को अपने कानूनी अधिकारों के बारे में भी नहीं पता।[10]

इससे सुनिश्चित होता है कि लिंग भेद की मानसिकता आज भी लोगों की सोच की जड़ में बसी हुई है। जहां आज एक ओर विभिन्न क्षेत्रों में महिलाएं आसमान छू रही हैं, विकास की ओर कदम बढ़ा रही हैं, वहीं दूसरी ओर आज भी हमारे लोगों के दिमाग में लैंगिक–भेद संबंधित मानसिकता और अचेतना, जस के तस बनी हुई है। ये सभी घटनाएं समय–समय पर शारीरिक, मानसिक, वेदना व यातनाओं की त्रासदी को उजागर करती है। वस्तुतः हमारी मानसिकता ही एक अजीब प्रकार की विकृति का शिकार हो गयी है, उसका एक उदाहरण इस प्रकार है–

''एक कक्षा में शिक्षक द्वारा छात्र से पूछा गया कि मर्दानगी के बारे में उनके दोस्तों के बीच क्या सोच है और क्या बातचीत होती है? एक सोलह साल का छात्र कहता है, "लड़कियों को कमेंट मारना, छेड़ना, झगड़ा करना, गाली बकना और नशा करना मर्दानगी है।"[11] आज के छात्रों में ऐसी ही मानसिकता विकसित हो रही है। प्रश्न उठता है कि क्या इस मानसिकता से देश और समाज उन्नति कर सकेगा? ये हमारे वजूद पर सावालिया चिन्ह है।

t.Mj vkj ;ku dk lEÁR;;

जेण्डर और यौन (सेक्स) को प्रायः एक ही अर्थ में लिया जाता है। परन्तु दोनों के मध्य में कुछ विशिष्ट अन्तर पाया जाता है। जहाँ सेक्स में जैविक स्तर पर गुणसूत्र, हार्मोनल प्रोफाइल, स्त्री एवं पुरूष के अंगों के बाह्य एवं आन्तरिक संरचना के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है।[12] वहीं जेण्डर को सामाजिक एवं सांस्कृतिक आधार पर स्त्री–पुरूष की व्याख्या करने वाला माना जाता है।[13] अमेरिकन साइकोलॉजी एसोसिएशन के अनुसार जेण्डर ''एक व्यक्ति के रवैये, भावनाओं एवं व्यवहार को दर्शाता है। यह स्त्री एवं पुरूष के अंगों अर्थात जैविक लिंग को संस्कृति के साथ जोड़ता है।''[14]

ओकले ने समाजशास्त्र में जेण्डर की आवधारणा का सूत्रपात किया है। जब हम यौन शब्द की बात करते हैं तब इसका प्रयोग जैविकीय रूप में पुरूष और स्त्री के लिए किया जाता है। इस संदर्भ में ओकले ने अपनी पुस्तक Sex, Gender and Society (1972) में यौन और जेण्डर में अंतर किया है। उनका कहना है कि यौन एक जैविकीय अवधारणा है, इसका

आधार शरीर है। हम यौन की धारणा को जेण्डर के क्षेत्र में नहीं मान सकते हैं। जेण्डर वह है जो सामाजिक और सांस्कृतिक है।[15] वास्तव में बाद के लेखकों ने जेण्डर की धारणा को 'स्त्री का समाजशास्त्र (Sociology of Women) नाम दिया है। यह निश्चित है कि पुरूष और स्त्री में जैविकीय अंतर है। स्त्री व पुरूषों के शरीर की बनावट में भी भिन्नता होती है। जेण्डर यह कुछ नहीं है, जेण्डर तो सामाजिक और सांस्कृतिक सृजन है। जिन समाजशास्त्रियों ने जेण्डर पर लिखा है, वे इसको लिंग के साथ नहीं जोड़ते हैं। उनका कहना है कि लिंग तो जैविकीय है और जेण्डर सामाजिक और सांस्कृतिक है। उदाहरण के लिए किसी अर्थी को चार स्त्रियां उठाकर शमशान घाट नहीं ले जाती। इसका यह कारण नहीं है कि स्त्रियां एक शव के वजन को उठा नहीं सकती, पर वे शव को इसलिए नहीं उठाती क्योंकि समाज द्वारा यह वर्जित है कि वे शव को लेकर शमशान तक जाएं। ऐसी अवस्था में जेण्डर की आवधारणा स्त्री पुरूष अंतर को शाक्ति (power) के साथ जोड़ती है।

जब हम शब्द कोश में जेण्डर का अर्थ देखते हैं तो इसका अर्थ निकलता है– 'लिंग' अर्थात् पुरूष और स्त्री। हम जेण्डर का अर्थ पुरूष और स्त्री के रूप में नहीं लेते, हम इसका अर्थ पुरूष और स्त्री के बीच में पाया जाने वाला सामाजिक और सांस्कृतिक अंतर मानते हैं, लिंग का अंतर नहीं।

मानवशास्त्री जी.पी. मर्डोक ने जैविक तत्त्व और व्यावहारिकता को एक साथ जोड़ा है। उनके अनुसार ''महिला या पुरूष को जन्म के पूर्व से निर्धारित तत्त्वों के अनुसार अपनी भूमिका निभाने की बजाय जैविक भिन्नता, जैसे पुरूष में ज्यादा शारीरिक ताकत होती है और महिलाएं बच्चे पैदा करती हैं – की वजह से व्यावहारिकता के लिए लिंगगत भूमिकाएं निभानी होती है अर्थात् ज्यादा दक्षता के लिए लैंगिक श्रम–विभाजन आवश्यक है।''

सांस्कृतिक श्रम–विभाजन के सिद्धांत के अनुसार ब्रिटिश महिला समाजशास्त्री ओकले यह मानती हैं कि लिंगपरक भूमिकाएं संस्कृति द्वारा निर्धारित होती हैं, वह पाश्चात्य महिला युक्ति आंदोलन का समर्थन करती हैं, उनके अनुसार लिंगपरक श्रम–विभाजन न तो अतीत में सर्वव्यापी रहा है और न भविष्य में सर्वव्यापी होगा। जैविक शक्तियों के बजाय मानव की खोज करने की शक्ति की वजह से सांस्कृतिक विविधता पुष्पित एवं पल्लवित होती हैं।

हालाकि कार्ल मार्क्स ने विस्तृत रूप में महिलाओं का सवाल विश्लेषित नहीं किया है, परन्तु बाद में उनके सहयोगी फेडरिक एंगेल्स ने इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी–''द ऑरिजिन ऑफ फेमली, प्राइवेट प्रोपर्टी एंड द स्टेट'' एंगेल्स ने परिवार के बारे में विकासवादी दृष्टिकोण अपनाया और कहा कि जिस प्रकार उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होता रहा है, ठीक वैसे ही परिवार में भी परिवर्तन होता है। चूँकि ''शुरू–शुरू में उत्पादन के साधन समुदाय के स्वामित्व में थे, इसलिए परिवार नामक संस्था का अस्तित्त्व ही नहीं था,

अर्थात् प्रारंभिक साम्यवाद के युग में बंधन युक्त स्वच्छंद यौन संबंध हुआ करते थे। धीरे–धीरे समाज विकसित होता गया, यौन संबंध पर प्रतिबंध बढ़ते गये। अंततः विवाह और परिवार नामक संस्थाओं का उदय हुआ। विवाह और परिवार ने निजी संपत्ति के उत्तराधिकारी की समस्या का समधान ढूँढ़ा। प्रारंभ से ही पुरूष संपत्ति के स्वामी होते थे, अतः यह सवाल उठना उचित था कि उसका उत्तराधिकार किसी वैद्य उत्तराधिकारी को मिले। ऐसी स्थिति में एक पत्नी एक पति विवाह इस समस्या को सुलझाने का सबसे कारगर उपाय था।''[16]

समाजशास्त्र का एक नियम है– सांस्कृतिक विलंबन अर्थात् सभ्यता जितनी तेजी से आगे बढ़ती है, संस्कृति उस गति में काफी पीछे छूट जाती है, इसलिए कि परंपराओं की जड़े काफी गहरी होती हैं और विवेक सभ्यता की अंधाधुध दौड़ में पिछड़ कर, उन्हें काट नहीं पाता। सांस्कृतिक परिवर्तन सोच–विचार के परिणाम होते हैं। इसलिए उनकी गति मंद होती है, जबकि वैज्ञानिक और तकनीकी आविष्कार सांस्कृतिक परिवर्तन की परवाह किए बिना सभ्यता को तेजी से आगे ले जाते हैं। जब प्रगति तो होती है, पर वह प्रगति समाज के लिए विशेष हितकारी नहीं होती, क्योंकि सभ्यता और संस्कृति की विकास–गति में जितना अधिक अंतर होगा, समाज में अव्यवस्था उतनी ही ज्यादा फैलती है। विचार और व्यवहार में अंतर उतना ही अधिक बढ़ता है। लिंग–भेद संबंधी मानसिकता अपने इसी ढ़र्रे पर टिकी हुई है।

भारतीय समाज में नारी की जो स्थिति कई वर्षों पहले थी, आज भी लगभग वैसी ही बनी हुई है। यदि महानगरों व नगरों में नारी की स्थिति को नजर अंदाज करके भारतीय गांवों की ओर कूच किया जाए तो स्थिति में सूई की नोंक जितना परिवर्तन भी नहीं मिलेगा। भारतीय संस्कृति में नारी के स्थान व स्थिति को यदि देखा जाए तो वहां नारी एक आदर्श के रूप में स्थित है। नारी से वह सभी चीजें अपेक्षित है जो परिवार व समाज के कल्याण के लिए आवश्यक है। नारी कर्त्तव्यों व धर्मों से हमारे पौराणिक धर्म ग्रंथ भरे पड़े हैं। नारी को सीता, लक्ष्मी, अन्नपूर्णा, माँ, व पवित्रा का जामा पहनाया गया है। नारी को सर्वोच्च स्थान दिया गया है, परंतु व्यवहार के धरातल पर उतर कर देखा जाएं तो ज्ञात होता है कि किस चालाकी से नारी को सजा–धजा कर बलि का बकरा बनाया गया है। जरा सी चूक हो जाने पर उस सर्वोच्च शिखर पर बैठी नारी को जमीन की धुल चटा दी जाती है। गृहस्वामिनी का सम्मान केवल घर के कामों, झाड़ू–चौके तक ही सीमित रख महिलाओं को अहम मुद्दों पर फैसले लेने जैसे–कामों में बड़ी चालाकी से दरकिनार कर दिया जाता है।

Hkkjr esa efgykvksa dh lkekftd fLFkfr

महिलाओं की स्थिति समग्र समाज में दयनीय बनी हुई है। नारी की दशा को यदि विभिन्न युगों के क्रमिक विकास के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए, तो हम पाते हैं कि नारी की स्थिति

कितने रूपों में बदलती रही है। प्रागैतिहासिक युग में विवाह प्रथा नहीं थी, स्त्री–पुरूष छोटे–मोटे सामाजिक समूहों में रहते हुए, प्रकृति से संघर्ष करते थे। इस समय स्त्री की स्थिति पुरूषों से श्रेष्ठ थी, क्योंकि समाज मातृसत्तात्मक था। कालान्तर में उसकी श्रेष्ठता लुप्त होने लगी, हम इसका दोष अपनी आर्य परंपरा को देते हैं कि वेद, पुराणों में नारी को पराश्रित रहने को उचित माना गया है।[17] परन्तु हमने कभी यह जानने का प्रयत्न नहीं किया कि ऐसा क्यों कहा गया है? वहीं पर उनका कथन ''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'', भी दृष्टव्य है। वस्तुतः यह समस्या प्राचीनकाल से रही है। इसमें धर्म, संस्कृति, साहित्य, परम्परा, रीतिरिवाज और शास्त्र को कारण माना गया है। भारतीय दृष्टि से इस पर विचार करने की जरूरत है। पाश्चात्य जीवनशैली अनुकरणीय नहीं है। भारतीय सन्दर्भों में समस्या के समाधान के लिए प्रयास तो अच्छे हुए हैं। भारतीय विद्वान समानाधिकार, समानता, प्रतियोगिता की बात नहीं करते, वे सहयोगिता, सहधर्मिती, सहचारिता की बात करते हैं। इसी से परस्पर सन्तुलन स्थापित हो सकता है।

पौराणिक काल में शक्ति का स्वरूप मानकर उसकी आराधना की जाती रही है, किन्तु 11 वीं शताब्दी से 19 वीं शताब्दी के बीच भारत में महिलाओं की स्थिति दयनीय होती गई। एक तरह से यह महिलाओं के सम्मान, विकास, और सशक्तीकरण का अंधकारमय युग था। मुगल शासन, सामन्ती व्यवस्था, केन्द्रीय सत्ता का विनष्ट होना, विदेशी आक्रमण और शासकों की विलासितापूर्ण प्रवृत्ति ने महिलाओं को उपभोग की वस्तु बना दिया था। उसके कारण बाल विवाह, पर्दा प्रथा, अशिक्षा आदि विभिन्न सामाजिक कुरीतियों का समाज में प्रवेश हुआ, जिसने महिलाओं की स्थिति को हीन बना दिया तथा उनके निजी व सामाजिक जीवन को कलुषित कर दिया।

महिलाओं की स्थिति में सुधार हेतु समय–समय पर अनेक प्रयास किसी न किसी रूप में होते रहे हैं। भक्तिकाल में नारियों को पुरुषों के समान भक्ति के योग्य माना, जिसके फलस्वरूप अनेक महिला सन्तों ने विशेष स्थान बनाया जिनमें प्रमुख हैं– मीराबाई, मुक्ताबाई, केसमाबाई, गंगूबाई व जानी। अकबर ने बाल विवाह, बेमेल विवाह, सती प्रथा को रोकने की दिशा में कार्य किया। राजा जयमल की विधवा को अकबर ने सती होने से रोका था तथा पुर्तगाली गवर्नर अल्बुकर्क ने अपनी' आलमदारी' में इस प्रथा के विरूद्ध आदेश प्रसारित करवाए। महिलाओं की दशा को सुधारने में अनेक समाज सुधारकों ने महती भूमिका निभाई। जिनमें प्रमुख थे– राजाराममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, वीर सांलिगम, दयानन्द सरस्वती, महादेव गोविन्द रानाडे, बाल गंगाधर तिलक, ज्योतिबा फूले, केशवकवे, बहरामजी मालाबरी, गोपाल कृष्ण आगरकर, हरिदेशमुख इत्यादि। महिला समाज सुधारकों में पण्डित रमाबाई, रमाबाई रानाडे, स्वर्ण कुमारी देवी, रानी स्वर्णमयी, सावित्री बाई फूले, आनन्दीबाई जोशी ने अपना योगदान दिया।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में जिन महिलाओं ने अपने प्राणों की आहूति देकर इस देश की स्वतंत्रता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई उनमें हैं– राजकुमारी अमृतकौर, गन्नोदेवी, मीरा बेन, सुचेता कृपलानी, कमला देवी, मार्गर कासिम, सुहासिनी गांगुली, बेरी बेन गुप्ता, कमला देवी चटोपाध्याय, सरोजदास नाग, सुशीला, जमुनाबाई, दुर्गाबाई देशमुख, कस्तूरबा गांधी, बेगम हजरत महल, शान्ति घोष, सरोजनी नायडू, कैप्टन लक्ष्मी सहगल, लक्ष्मीबाई, अरूणा आसफ अली, मैडम भीकाजी कामा, रानी चैन्नईया, दुर्गा देवी वोहरा, प्रीतिदत्त पोद्दार, मीमाबाई, इन्दूमति सिंह, रानी अवन्तिबाई, रानी ईश्वरी कुमारी, मीरा पन्ना, रेनू मेन, कुमारी मैना, लाडो रानी, कल्याणी दास, शोभारानी आदि। इन्होने पुरूषों के कदम ताल से मिलकर चलने के लिए पग–पग पर संघर्ष किया और इन पदों पर प्रतिष्ठित होने के लिए अदम्य साहस व विश्वास का परिचय देना पड़ा।

yfxd lekurk(t.Mj rFkk efgyk l'kähdj.k

महिला सशक्तीकरण को परिभाषित करने से पूर्व सशक्तीकरण क्या है? यह जानना जरूरी है । सशक्तीकरण का तात्पर्य है 'शक्तिशाली बनाना। सशक्तीकरण को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक असमानताओं से पैदा हुई, समस्याओं एवं शून्यता से निपटने के रूप में देखा जा सकता है। इसमें जागरूकता, अधिकार या हकों को जानने, सहभागिता, निर्णयन जैसे घटकों को लिया जाता है। लीला मीहेनडल के अनुसार 'निडरता, सम्मान और जागरूकता' तीनों शब्द महिला सशक्तीकरण में सहायक हैं। यदि डर से आजादी महिला सशक्तीकरण का पहला कदम है, तो तेजी से प्राप्त न्याय से उसकी आवश्यकता पूरी हो सकेगी। यदि महिलाओं को वास्तव में न्याय दिलाना है तो उनकी जाँच–परख प्रणाली को और अधिक कार्यकुशल बनाना होगा तथा अराजकता फैलाने वाले तत्वों को सजा देनी होगी।'[18] ''महिला सशक्तीकरण, भौतिक या आध्यात्मिक, शारीरिक या मानसिक, सभी स्तर पर महिलाओं में आत्मविश्वास पैदा कर उन्हें सशक्त बनाने की प्रक्रिया है।''[19]

पैलिनीथूराई के शब्दों में देखते हैं–'महिला सशक्तीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज के विकास की प्रक्रिया में राजनीतिक संस्थाओं के द्वारा महिलाओं को पुरुषों के बराबर मान्यता दी जाती है।'[20]

महिलाओं के लिए डॉ. बी.आर. अम्बेडकर का कथन है कि 'भारतीय नारी श्रम से नहीं घबराती, किन्तु आँसुओं की चिन्ता करते हुए वह रोटी, असमान व्यवहार, शोषण से अवश्य डरती है।' इसमें बाबा साहेब ने महिलाओं की वास्तविक वेदना को मुखरित किया है। महिला सशक्तीकरण की अवधारणा बहुआयामी है। यह कोई पुरुष निरपेक्ष नहीं बल्कि, सापेक्ष विमर्श है, इसके लिए पुरुषों को भी आगे आना होगा। महिलाओं के सामाजिक सशक्तीकरण में शिक्षा

की अहम भूमिका है। यह महिलाओं के सर्वांगीर्ण विकास के लिए प्रथम एवं मूलभूत साधन है, क्योंकि महिला के शिक्षित होने पर जागरूकता, चेतना आएगी, अधिकारों की सजगता होगी, रूढ़ियां, कुरीतियां, कुप्रथाओं की कालिमा छंटेगी और वैचारिक क्रान्ति का प्रकाश पुंज उदित होगा। शिक्षा के माध्यम से महिलाएं समाज में सशक्त, सम्मान एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका दर्ज करा सकती हैं। शिक्षित महिलाएं न केवल स्वयं आत्मनिर्भर एवं लाभान्वित होती हैं, अपितु भावी पीढ़ियां भी लाभान्वित होती है। शिक्षा एक ऐसी सम्पत्ति है जिसे न छीना जा सकता है और न ही बांटा जा सकता है। दूसरी ओर ऐसा हथियार भी है जिसके बल पर कोई भी युद्ध लड़ा जा सकता है, अब चाहे वह शोषण, असमानता, अन्याय, अनाचार के विरूद्ध ही क्यों ना हो।

efgykvk dh fLFkfr

शिक्षा सम्पूर्ण अज्ञानता रूपी अंधकार को दूर करके विकास और उन्नति के मार्ग खोलती है। भारत में महिला एवं पुरुष की शिक्षा में विभेदीकरण पाया जाता है। लड़की को 'पराया धन'[21] की संज्ञा देकर उसके सभी अधिकारों का हनन किया जाता है, क्योंकि संकीर्ण विचारधारा एवं सीमित ज्ञान के कारण स्वयं महिलाएं भी ऐसा दृष्टिकोण रखती हैं और लड़कियों के साथ हर स्तर पर भेदभाव किया जाता है।

खाना, पहनावा, प्यार एवं स्नेह, शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यवसाय आदि में खुला भेदभाव आज भी देखा जा सकता है। इसका कारण पुरूष प्रधानता या निरक्षता हो सकती है। वैश्विक परिदृश्य पर एक नजर डाले तो यूनिसेफ की एक रिपोर्ट के अनुसार महिला साक्षरता की स्थिति विश्व के कुछ देशों में इस प्रकार है–

तालिका 1 में विभिन्न देशों का महिला साक्षरता का प्रतिशत प्रदर्शित किया गया है।

क्र.	देश	साक्षरता (प्रतिशत)
1	ब्राजील	97.9
2	रूस	99.8
3	नाईजीरिया	86.5
4	चीन	98.5
5	भारत (2011)	65.46

तालिका 2 में सन् 1951 से लेकर 2011 तक भारत में महिला साक्षरता का प्रतिशत दिखाया गया है।

क्र.	वर्ष	साक्षरता (प्रतिशत)
1	1951	8.9
2	1961	22.0
3	1971	29.8
4	1981	29.8
5	1991	53.7
6	2001	53.7
7	2011	65.46
		भारत में साक्षरता (महिला)

दोनों तालिकाओं के आधार से देखा जाये तो ज्ञात होता है कि रूस 99.8 प्रतिशत, चीन 98.5 प्रतिशत, ब्राजील 97.9 प्रतिशत, नाईजीरिया 86.5 प्रतिशत महिला साक्षरता की तुलना करें तो भारत में मात्र 65.46 प्रतिशत महिलाएं ही साक्षर है। उनमें से भी अधिकांश महिलाएं अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों के प्रति अनभिज्ञ है। कुछ प्रतिशत ही जागरूकता का है। यह शैक्षिक स्तर 1951 में 8.9 से बढ़ता छः दशकों में इस स्तर को छू पाया है। 100 प्रतिशत को प्राप्त करने न जाने कितने और दशकों का इंतजार करना होगा।

पर, यह निश्चित है कि इस स्तर से ही लैंगिक समानता, महिला सशक्तीकरण का विकास एवं उन्नति का आधार होगा। विभिन्न महिला संगठन, महिला आंदोलन, नारीवादी विचारक तथा राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेकानेक संगठन स्त्री की स्वतंत्रता, समानता, अस्मिता, न्याय और गरिमा की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है, किन्तु अथक प्रयासों तथा उपायों के बावजूद लैंगिक असमानता विद्यमान है। अतः इस संदर्भ में विभिन्न विकल्पों की तलाश स्वाभाविक है।

सशक्तीकरण अधीनता व हिंसा को चुनौती है। संसाधनों पर महिलाओं का नियंत्रण होना चाहिए। महिलाओं को मानव अधिकार देने के काफी प्रयास होने के बावजूद पितृसत्ता पूरे सामाजिक ढाँचे में इतनी गहराई तक है कि महिला को अपने बारे में निर्णय करने का अधिकार नहीं है। आज भी भ्रूण हत्या होती है। बालिका वधु होती है। जल्दी विवाह करके उनके व्यक्तित्व को कुचलने का पूरा प्रयास होता है। घरेलू हिंसा महिला के विकास को रोकती है और उसके सशक्तीकरण में सबसे बड़ी बाधा है। सशक्तीकरण के लिए आवश्यक है कि यह सारे समाज की सोच बने कि महिलाओं पर हिंसा बर्दाश्त नहीं की जाएगी। जब घर ही सुरक्षित न हो तो वह नागरिक होने का अहसास नहीं कर सकती।

स्पष्ट है कि भूमण्डलीकरण एक समग्रतावादी, वर्चस्ववादी विचारधारा एवं प्रक्रिया के रूप में विकसित हो गयी है जिसने वैचारिक एवं आनुमानित दोनों स्तरों पर चेतना का सघन संकेन्द्रण कर दिया है। इसका नकारात्मक प्रभाव महिलाओं विशेषतः विकासशील देशों की महिलाओं की अस्मिता, सुरक्षा, स्वायत्तता एवं सशक्तीकरण पर निरन्तर बढ़ रहा है। महिला सशक्तीकरण की सार्थक पहल में भारत सरकार एवं प्रशासनिक ढॉचा द्वारा स्वीकृत निर्णय एवं प्रयास प्रशंसनीय है–

- सर्वोच्च न्यायालय के निर्देशों के अनुपालन में महिलाओं के लिए उनके कार्य स्थान पर, यौन उत्पीड़न रोकने हेतु राष्ट्रीय स्तर पर समिति का गठन।
- गरीब तबकों की महिलाओं को कृषि, पशुपालन, डेयरी, हैण्डलूम, हस्त शिल्प आदि क्षेत्रों में आर्थिक गतिविधियां प्रारम्भ करने हेतु प्रशिक्षण तथा आर्थिक सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से 12 नई परियोजनाओं "स्टॉप कार्यक्रम" के अंतर्गत वर्ष 2001 में स्वीकृत की गई।
- पहली बार "वार्षिक आर्थिक सर्वेक्षण" में लैगिक असमानता संबंधी एक अध्याय जोड़ा गया तथा वर्ष 2001 –2002 के बजट का लैंगिक विश्लेषण भी किया गया।
- महिलाओं के लिए देश में उपलब्ध कानूनी प्रावधानों की व्यापक समीक्षा हेतु "टास्क फोर्स'' का गठन किया गया, ताकि उनको अधिक व्यावहारिक तथा उपयोगी बनाने हेतु आवश्यक कदम उठाए जा सके।
- इस वर्ष देश के विभिन्न भागों में कार्यरत महिलाओं के लिए 29 महिला छात्रावास निर्माण की स्वीकृति प्रदान की गई । इन छात्रावासों में "डे केयर" सुविधाएं भी उपलब्ध कराई जाएंगी। इसके निर्माण से 61,364 महिलाओं को आवश्यक आवासीय सुविधाएं प्राप्त हो सकेंगी।
- वर्ष 2001 में पहली बार विभिन्न राज्यों तथा जिलों के "जेण्डर डेवलपमेंट इन्डेक्स" तैयार करने हेतु कदम उठाए गए। इससे महिलाओं के लिए क्षेत्र आधारित जरूरी विकास योजनाओं को तैयार करने हेतु मार्ग प्रशस्त हो सकेगा ।
- महिला सशक्तीकरण के क्षेत्र में कार्यरत संस्थाओं के सदस्यों को प्रशिक्षण प्रदान करने हेतु मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। डी.डब्ल्यू. सी.डी., इग्नू तथा आई. एस. आर. ओ. के सहयोग से वर्श 2001 में "डिसटेन्स एजुकेशन परियोजना" प्रारम्भ की गयी।

उपरोक्त कार्यों के कारण भारत में महिला सशक्तीकरण की दशा एवं दिशा में कुछ हद तक निश्चित ही सुधार आया है, परन्तु दूर दराज के ग्रामीण आवासी प्रदेशों में महिलाएं आज भी क्रूरता का शिकार हो रही है। उनमें जागरूकता तभी सम्भव है, जब वे स्वयं आगे आकर अपने अधिकारों का प्रयोग करेंगी। मुझे आशा है ऐसा सूर्य शीघ्र की इस धरा को आलोकित करेगा।

InHk xUFk Iph

[1] कात्यायन वार्तिक 125, 2477

[2] पतंजलि द्वारा अष्टध्यायी के लिए टिप्पणियाँ 3.3.21 और 4.1.14

[3] रमन विहारी लाल, कृष्णाकान्त शर्मा : भारतीय शिक्षा का इतिहास एवं समस्याएं, आर. लाल बुक डिपो मेरठ, 2013 पृ. 10

[4] डॉ सिंह वी. बी, पहुजा सुधा : भारत में शिक्षा व्यवस्था का विकास, आर. लाल बुक डिपो मेरठ, 2007 पृष्ठ 18

[५] आर.सी. मजूमदार और एण्डी पुसल्कर (संपादक) : भारतीय लोगों का इतिहास और संस्कृति, वॉल्यूम I, वैदिक युग मुंबई : भारतीय विद्या भवन 1951, पे. 394

[6] देव पूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय संयमस्तपः।
दानचेति गृहस्थानां षडकर्माणि दिनेदिने।। 116 योगसार, आचार्य योगेन्दु देव विरचित

[7] Jyotsana Kamat (2006-1), "Status of Women in Medieval Karnatkaa" 24-12-2006

[8] मैथलीशरण गुप्त

[9] Progress of the World's Women: In Pursuit of Justice - http://www.unwomen.org/en/digitallibrary/publications/2011/7/progress-of-the-world-s-women-in-pursuit-ofjustice#sthash.aY0Df8in.dpuf

[९०] www.unwomen.org/~/media/headquarters/attachments/sections/library/publications/2011 progressofthe worldswomen-2011-en.pdf

[९१] प्रतीक गोयल– बीबीसी हिन्दी डॉट कॉम

[12] Sex refers to biological differences; chromosomes, hormonal profiles, internal and external sex organs.

[13] Gender describes the characteristics that a society or culture delineates as masculine or feminine. www.med.monash.edu.au

[९४] Gender refers to the attitudes, feelings, and behaviors that a given culture associates with a person's biological sex" The Guidelines for Psychological Practice with Lesbian, Gay, and Bisexual Clients, adopted by the APA Council of Representatives, February 18-20, 2011

[15] The state of being male or female (typically used with reference to social and cultural differences rather than biological ones) **oxforddictionaries.com**

[16] "The first division of labor is that between man and woman for the propagation of children." And today I can add: The first class opposition that appears in history coincides with the

development of the antagonism between man and woman in monogamous marriage, and the first class oppression coincides with that of the female sex by the male. Monogamous marriage was a great historical step forward; nevertheless, together with slavery and private wealth,……..
Engels Friedrich, Origin of the Family, Private Property, and the State, *First Published: October 1884, in Hottingen -Zurich; page 35*

[१७] 'पिता रक्षति कौमारे, भरता रक्षति यौवने।
स्थविरे पुत्रा रक्षन्ति न स्त्रि स्वातंत्रम् अर्हति।। मनुस्मृति

[18] मीहेनडल, लीला, अचीवमेन्ट एवं चैलेन्ज,योजना, अगस्त 2001, पृष्ठ 56

[19] **Empowerment** refers to increasing the spiritual, political, social, or economic strength of individuals and communities. It often involves the empowered developing confidence in their own capacities http://www.selfgrowth.com/articles Articles_Women_Empowerment.html

[२०] पैलिनीथूराई, जी., इण्डियन जनरल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, oks- Xl~ VII नं. 1,जनवरी–मार्च 2001, पृष्ठ 39

[२१] अर्थो हि कन्या परकीय एव, तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुं।। 21।। कवि कालिदास ''अभिज्ञान शाकुन्तलम्, चतुर्थ अंक।

हमारे लेखक

वीरेन्द्र जैन
द्वारा सुनील कुमार जैन
म.न. 844 सेंट फ्रांसिस स्कूल के पास
स्कीम न. 114
विजयनगर
इंदौर, मध्य प्रदेश

सेजल पटेल
द्वारा श्री जसकरन लाल वर्मा
23/240 भारत भूषण कालोनी
छोटी काशी (गोला)
लखीमपुर खीरी
उत्तर प्रदेश – 262 802

प्रो.गिरिश्वर मिश्र
कुलपति
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी
विश्वविद्यालय
वर्धा, महाराष्ट्र

राजेश अग्रवाल
संयुक्त सचिव
कौशल विकास और उद्यमिता मंत्रालय
द्वितीय तल, ऐन्क्सी बिल्डिंग शिवाजी
स्टेडियम
शहीद भगत सिहं मार्ग, क्नाट प्लेस
नई दिल्ली 110 001

ekuo vf/kdkj d: :Ik e: vfHk0;fDr Lokr«; vkj nkf;Ro d: ljkdkj

fxjh'oj feJ

चूंकि मनुष्य के व्यक्तित्व का गठन व्यक्त और अव्यक्त भागों से मिलकर बना होता है, इसलिए सिर्फ व्यक्त या अभिव्यक्त को ही हम उसका सम्पूर्ण अस्तित्व नहीं कह सकते। पर दुनिया में जो अभिव्यक्त अर्थात प्रकट है, लोग उसी से संबंध रखते हैं। वे उसी के आधार पर हमारे विचार और उससे जुड़े आशय को ग्रहण करते और समझते हैं। ऐसे में अभिव्यक्ति सार्वजनिक ज्ञान का एक महत्वपूर्ण माध्यम हो जाती है। हम मौखिक और लिखित रूपों वाले विविध प्रकार के संचार माध्यमों का उपयोग करते हुए दूसरों तक अपनी बातें पहुंचाते हैं। अभिव्यक्ति का संचार ही सार्वजनिक जीवन को संभव करता है। आज अभिव्यक्ति की सामर्थ सबसे बड़ी उपलब्धि और अभिव्यक्ति की असफलता सबसे बड़ा दंड बन गया है।

अभिव्यक्ति द्वारा हम एक दूसरे के साथ जुड़ते हैं और लक्ष्यों को पाने के लिए संयुक्तरूप से विभिन्न योजनाओं पर जुट कर कार्य करते हैं। इस प्रक्रिया में क्या कहा जाता है, इससे ज्यादा महत्वपूर्ण है कि वह कैसे कहा जाता है। संचार में प्रतीकों की बड़ी भूमिका होती है क्योंकि हम अपनी अभिव्यक्ति प्रतीक या कोड के माध्यम से ही करते हैं। अभिव्यक्ति के कुछ तरीके और संदेश जहां सहज स्वीकार्य होते हैं, वहीं कुछ अन्य अग्राह्य हो जाते हैं। इस तरह अभिव्यक्ति के खतरे भी हैं क्योंकि वह किसी को आघात पहुंचा सकती है और तब उसका लक्ष्य व्यक्ति या समुदाय का विरोध और प्रतिरोध करता है। तब अभिव्यक्ति हिंसात्मक रूप भी ले लेती है। दूसरी ओर संस्कृति का सृजनात्मक पक्ष अभिव्यक्ति केन्द्रित होता है। सभी समाजों में विभिन्न माध्यमों से अभिव्यक्ति के वैविध्य का स्वागत किया जाता है। उत्कृष्ट अभिव्यक्ति से व्यक्ति को प्रतिष्ठा मिलती है। मानवीय सर्जना के क्षेत्र में अभिव्यक्ति का महत्व किसी से छिपा नहीं है। नृत्य, वाद्य, संगीत, चित्रकला, फिल्म और साहित्य के विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण है।

ऊपर के विवरण से यह अनुमान लगाना ठीक नहीं होगा कि अभिव्यक्ति केवल संस्कृति के सृजनात्मक पक्ष के लिए ही महत्वपूर्ण है। जैसा कि हम सब अनुभव करते हैं कि सामान्य जीवन के कार्यकलापों में भी अभिव्यक्ति का अवसर व्यक्ति को शक्ति का अहसास कराता है और अभिव्यक्ति से वंचित होना बड़ा कष्टदायक अनुभव हो जाता है। अभिव्यक्ति न हो तो जीना दूभर हो जाता है। विभिन्न देशों के स्वतंत्रता संग्रामों का इतिहास पढ़ने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपनिवेश बनाये रखने में अभिव्यक्ति का अवसर न देना शासकों द्वारा प्रयुक्त नियंत्रण का बड़ा ही जबरदस्त उपकरण रहा है। जेल की संस्था अभिव्यक्ति

पर रोक लगाने के लिए भी थी। अंग्रेजों के जमाने में 'काला पानी' की सजा भी इसी प्रकार की थी। मन की बात मन में ही रह जाना बड़ी पीड़ा देता है। इस तरह की घुटन से समाज का मनोबल गिरता है। अतः मानव जीवन में अभिव्यक्ति की आवश्यकता को देखते हुए उसे मूलभूत आवश्यकता का दर्जा देना स्वाभाविक है। अभिव्यक्ति के अभाव में प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रजातंत्र की आत्मा जैसी होती है। ऐसी अपेक्षा होती है कि संसद और विधान सभा जैसी इसकी संस्थाओं में पक्ष और विपक्ष दोनों हीं अभिव्यक्ति को आदर दें। अभिव्यक्ति से संवाद संभव होता है और सबको एक दूसरे के विचारों का पता चलता है और निर्णय का रास्ता भी निकलता है।

राजशाही समाप्त होने और लोकतंत्र की प्रतिष्ठा के साथ–साथ अब अभिव्यक्ति को सारे विश्व में महत्व दिया जा रहा है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का व्यापक महत्व देखते हुए उसे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर नीति के रूप में स्थान दिया जा रहा है। 'मानव अधिकारों के सार्वभौमिक घोषणा पत्र' (1948) में उसके उद्देश्यों में यह आशा व्यक्त की गयी थी कि मानव अधिकारों की स्थापना के साथ 'सभी मनुष्य अभिव्यक्ति एवं आस्था की स्वतंत्रता का उपभोग करेंगे तथा भय और अभाव से मुक्त होंगे'। इन मानव अधिकारों में जिन नागरिक स्वतंत्रताओं का उल्लेख किया गया है उनमें भी यह कहा गया है कि 'प्रत्येक व्यक्ति को जीवन, स्वतंत्रता तथा अपने शरीर की सुरक्षा का अधिकार है' (अनुच्छेद–3), 'प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश में आने–जाने एवं बसने का अधिकार है तथा दूसरे देश में जाने और अपने देश में लौटने या अत्याचार से बचने के लिए दूसरे देश में शरण पाने का भी अधिकार है' (अनुच्छेद 13–14) तथा 'प्रत्येक व्यक्ति को विचार, अंतःकरण तथा धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार है' (अनुच्छेद–18)। राजनैतिक अधिकारों में स्पष्टतः कहा गया है कि 'प्रत्येक व्यक्ति को कोई मत रखने और उसे अभिव्यक्त करने का अधिकार है' (अनुच्छेद–19) तथा 'प्रत्येक व्यक्ति को शान्तिपूर्ण सम्मेलन करने या किसी संघ में शामिल होने का अधिकार है' (अनुच्छेद–20)। इस प्रकार आधुनिक युग में मानव अधिकारों के इस मूल दस्तावेज में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

इसी तरह सामाजिक अधिकार के अंतर्गत यह कहा गया है कि 'प्रत्येक व्यक्ति को समुदाय के सांस्कृतिक जीवन में निर्वाधरूप से भाग लेने, कलाओं का आनंद उठाने तथा वैज्ञानिक प्रगति और उसके लाभों में हिस्सेदारी का अधिकार है' (अनुच्छेद–27)।

संयुक्त राष्ट्र की महासभा द्वारा 16 दिसंबर 1966 को पारित तथा 23 मार्च 1976 से प्रभावी 'नागरिक और राजनैतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा' में भी निम्नांकित प्रावधान किये गये हैं:

'प्रत्येक व्यक्ति को मत रखने की और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता होगी मगर दूसरों के अधिकारों या प्रतिष्ठा के प्रति सम्माने के लिए अथवा राष्ट्रीय सुरक्षा या सार्वजनिक शान्ति या सार्वजनिक स्वास्थ्य या नैतिक नियमों की हिफाजत के लिए कानून द्वारा मर्यादाएं लगायी जा सकती हैं' (अनुच्छेद–19)।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद–19 के अनुसार अभिव्यक्ति नागरिक का मौलिक अधिकार है। इसके अंतर्गत सभी नागरिकों को भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्राप्त है। उन्हें शान्तिपूर्वक बिना हथियार के एकत्र होने, यूनियन और परिषद बनाने, पूरे भारत में भ्रमण करने, भारत के किसी भाग में रहने और बसने, इच्छा अनुकूल कोई व्यवसाय अपनाने और व्यापार रकने की छूट प्राप्त है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता यदि निरपेक्ष हो जाए तब देश की सत्ता के लिए भी संकट पैदा हो सकता है। अतः संसद द्वारा पारित और अंगीकृत संविधान में 16वें संशोधन लाते हुए वर्ष 1963 में अनुच्छेद 19 में यह परिवर्तन लाया गया कि राज्य को यह अधिकार होगा कि वह राष्ट्र की प्रभुसत्ता और एकता के हित में भाषण, अभिव्यक्ति, सम्मेलन आदि की स्वतंत्रता के मूल अधिकारों पर विधि द्वारा प्रयुक्त प्रतिबंध लगा सकता है। इस तरह अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य की कुछ सीमाएं भी स्पष्ट रूप से स्वीकर की गयी। वर्णित सीमाओं में यह उल्लेख है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से भारत की संप्रभुता, एकता, सुरक्षा, मैत्री संबंध, जन व्यवस्था तथा नैतिकता आदि को किसी तरह का खतरा नहीं होना चाहिए।

उल्लेखनीय है कि भारतीय संविधान में प्रेस की स्वतंत्रता का अलग से वर्णन नहीं किया गया है। वह उपर वर्णित अधिकारों में ही समाहित है। प्रेस प्रजातंत्र की मशीनरी का एक महत्वपूर्ण हिस्सा होता है। यह स्वतः स्पष्ट है कि समाज में विचारों का आदन–प्रदान, सूचना का वितरण तथा सार्वजनिक महत्व के मुद्दों पर चर्चा तभी संभव हो सकेगी जब समाचार पत्रों को स्वतंत्रता प्राप्त हो। कठिन परिस्थितियों में जब राज्य की सुरक्षा तथा स्थिरता को खरता पैदा हो तब उसे ध्यान में रखकर कुछ प्रतिबंध लगाये जा सकते हैं। पर प्रजातांत्रिक सामाजिक परिवेश में सार्वजनिक शिष्टाचार को ध्यान में रखते हुए अखबारों को सभी प्रकार के विचारों को प्रकट करने की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। चाहे वे सरकारी नीति के पक्ष में हों या विपक्ष में।

ज्ञात है कि 1990 के उदारीकरण के बाद देश में निजी मीडिया का तेजी से प्रसार हुआ है और संचार के क्षेत्र में स्वतंत्रता बड़ी है। तहलका, एनडीटीवी आदि ने तमाम मामलों का पर्दाफाश किया है। प्रेस और मीडिया को स्वायत्ता देना प्रसार भारती का प्रमुख लक्ष्य है। एक पक्षीय या गलत सूचना देना जनतंत्र के विरूद्ध है।

इतिहास में झांके तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर नियंत्रण की छाया गहराने के कई अवसर उपस्थित हुए हैं। धारा 352 के अंतर्गत इन्दिरा जी के शासन में 1975 में भारत में आपात काल लगा था। तब प्रेस की स्वतंत्रता छीन ली गयी थी। एम.एफ.हुसैन की कला कृतियों और वेन्डी डेनिगर की पुस्तक को लेकर हिन्दी देवी देवताओं के वर्णन को लेकर आपत्ति की गयी और प्रकाशक के पुस्तक का पूरा संस्करण हीं नष्ट कर दिया गया। प्रसिद्ध लेखक सलमान रश्दी की 'सैटेनिक वर्सेज' पर भी पाबंदी लगी थी। बांग्लादेश की लेखिका तसलीम नसरीन की पुस्तकों को लेकर भी आपत्ति हुई और वह देश निर्वासन का दंश झेल रही हैं। वेश–भूषा को लेकर तमाम देशों में कायदे–कानून बने हैं और उनका पालन न करने पर दंड दिया जाता है। अभिव्यक्ति पर से पहरा हटा नहीं है, बल्कि अभी भी लगा हुआ है।

भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति वाणी, मुद्रण, लेखनी, चित्र या किसी दूसरे तरीके से अपने विश्वासों, भावनाओं और विचारों को व्यक्त कर सकता है। इस तरह अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के अंतर्गत व्यक्ति को अपने विचारों का प्रचार, प्रकाशन और संचालन करने के लिए स्वतंत्रता मिली हुई है। कहना न होगा कि इसके अंतर्गत समाचार पत्रों की स्वतंत्रता भी शामिल है। स्मरणीय है कि संविधान के अनुच्छेद 19(1)(क) ने सभी नागरिकों को वाक् स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का जो मूल अधिकार उपलब्ध कराया है, उसका क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। इसे मर्यादा में रखने के लिए कुछ प्रतिबंध लगाये गये हैं। अतः अपमान–लेख, अपमान–वचन, मानहानि तथा न्यायालय अवमानना, शिष्टाचार या सदाचार पर आघात करने वाले या राज्य की सुरक्षा को दुर्बल करने वाले मुद्दों आदि से जुड़ी अभिव्यक्ति पर 1951 के संविधान संशोधन के फलस्वरूप प्रतिबंध लगाया गये। इसमें राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण संबंध, सार्वजनिक सुरक्षा तथा अपराध निरोध को विशेषरूप से ध्यान में रखा गया था।

अतः स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति कैसे और किस रूप में हो, इसके लिए समाज में कुछ नियम बनाए जाते हैं और उन्हें स्वीकार कर लागू भी किया जाता है। इन नियमों की स्वीकृति और उपयोग को राजनैतिक और सामाजिक–सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। पर ये नियम भी सृजनात्मकता की पंक्ति के आगे हेठे पड़ जाते हैं। संस्कृति अभिव्यक्त रूप में ही प्रमाणित होती है। मानवीय अभिव्यक्ति ने अब तक कई रूप धरे हैं। वह क्रमशः मौखिक, लिखित, मुद्रित और अब साइबर युग में डिजिटल रूप में उपस्थित हो रही है। उसकी व्यापकता ने अप्रत्याशित रूप से तीव्र गति पकड़ी है। इस बदलते परिप्रेक्ष्य में साइबर अपराध भी हो रहे हैं जो मूलतः अभिव्यक्ति की होड़ और ग्राहक के मन पर अधिकार जमाने को ध्यान में रखकर होते हैं। विकीलीक्स तथा पनामा लीक जैसी घटनाएं अभिव्यक्ति के अन्य आयाम को ही व्यक्त करते हैं।

उल्लेखनीय है कि समाज में अभिव्यक्ति का अवसर सबको समान रूप से नहीं मिल पाता है। चूंकि सामाजिक जीवन में अपनी महत्ता के कारण अभिव्यक्ति बड़ा ही मूल्यवान संसाधन है, अतः वर्चस्व संपन्न लोग इसके अवसर पर नियंत्रण लगाए रहते हैं और विभिन्न सामाजिक वर्गों के लोगों का इसका अवसर भिन्न–भिन्न मात्रा में हीं मिल पाता है। प्रतिष्ठा, शक्ति और राजनैतिक सत्ता हीं नियामक आधार बनते हैं। फलतः जो प्रभुता से युक्त होते हैं, वे इस पर अपना अधिकार जमा लेते हैं और जो शासित होते हैं, वे इससे वंचित रह जाते हैं। अधिकांश देशों में राजतंत्र के दौरान जनता पर नियंत्रण करने के लिए निरंकुश राजा अभिव्यक्ति के दमन का एक शस्त्र के रूप में प्रयोग करते थे। भारतीय इतिहास इसका साक्षी है कि अंग्रेजों के शासन काल में भारतीयों को अभिव्यक्ति के सीमित अवसर मिलते थे। इस प्रकार के दमन का विरोध करने पर सजा मिलती थी। महात्मा गांधी का सत्याग्रह, प्रसिद्ध दांडी मार्च, असहयोग आन्दोलन, उनके द्वारा अखबारों का प्रकाशन एक व्यापक अर्थ में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को ही व्यक्त करते हैं। वे अंग्रेजी शासन में हो रहे विभिन्न प्रकार के अत्याचारों के प्रतिकार को प्रकट करते हैं।

अब अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मनुष्य के अधिकार के रूप में ग्रहण की जाती है। स्वतंत्र भारत में इसे संविधान में मूल अधिकार में परिगणित किया गया और यह बिना किसी भेदभाव के सबको उपलब्ध कराया गया। बोलने, लिखने, घूमने, अपना विचार रखने, छापने की स्वतंत्रता सबके लिए मुहैया कराई गयी। सार्वजनिक स्थानों पर अपनी बात कहने की छूट दी गयी। अखबारों को मत प्रकाशित करने और संवाद को आगे बढ़ाने की व्यवस्था की गयी। संचार के विभिन्न माध्यम हमें अभिव्यक्ति का अवसर देते हैं। आज भारत में लगभग सभी भाषाओं में अखबार प्रकाशित हो रहे हैं। पत्रिकाओं व पुस्तकों का प्रकाशन भी तेजी से बढ़ा है। यह सब अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को ही व्यंजित करता है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि समाज के हाशिये के लोग, महिलाएं तथा पिछड़े वर्गों के लोगों को भी यह अधिकार समान रूप से प्राप्त है। अभिव्यक्ति के लिए भाषा प्रमुख माध्यम है पर अंग्रेजी भाषा, न्याय, स्वास्थ्य, शिक्षा, तकनीकी आदि जुड़े तमाम क्षेत्रों में प्रयुक्त हो रही है और अधिसंख्य जनता द्वारा प्रयुक्त भारतीय भाषाओं को उनका उचित स्थान नहीं मिल सका है। अंग्रेजी की क्षमता के अभाव में अभिव्यक्ति का संकट पैदा होता है और इस मूल अधिकार का हनन होता है।

स्मरणीय है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अनेक लोगों द्वारा दुरूपयोग भी किया जाता है। कई लोग अपने स्वार्थ साधन के लिए विरोध करने के क्रम में अनेक आरोप लगाते हैं जो निराधार भी होते हैं और कई बार लोग उनके विरूद्ध मान हानि का दावा भी करते हैं। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ हमारे उपर जिम्मेदारी भी आ जाती है कि वह प्रामाणिक और हानि रहित हो। आजकल अपने स्वार्थ के लिए गलता सूचना देना और विवाद पैदा करने

की घटनाएं भी सुनने में आती हैं। अब संचार साधनों की बहुतायत के साथ अभिव्यक्ति के सामने नये प्रश्न खड़े हो रहे हैं। अखबार हमारे आंख कान बन रहे हैं पर प्रायोजित समाचार और पेड न्यूज भी छापी जा रही है। जहां ट्विटर, ब्लॉग और फेसबुक जैसे सोशल मीडिया के माध्यमों से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के व्यापक होने का अवसर उपस्थित होता है। वहीं उनका दुरूपयोग जीवन में कठिनाईयां भी पैदा करता है। कभी–कभी निहित स्वार्थ वालों के लिए यह दुराग्रह का अभियान बन जाता है। किसी भी प्रकार की अभिव्यक्ति पूरी तरह निरपेक्ष नहीं हो सकती। अतः एक नागरिक के रूप में हमारा दायित्व बनता है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा की जाए पर उसका प्रयोजन जनहित में ही होना चाहिए। इसके लिए अभिव्यक्ति की मर्यादा भी स्वीकार करनी होगी। *(साभार राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग)*

PROUDH SHIKSHA
Form IV

Place of Publication	Indian Adult Education Association 17-B, Indraprastha Estate New Delhi – 110 002
Periodicity of Publication	Quarterly
Printer's name Nationality Address	Dr. Madan Singh Indian 17-B, Indraprastha Estate New Delhi – 110 002
Publisher's name Nationality Address	Dr. Madan Singh Indian 17-B, Indraprastha Estate New Delhi – 110 002
Editor's name Nationality Address	Dr. Madan Singh Indian 17-B, Indraprastha Estate New Delhi – 110 002
Name and address of individuals who own the newspaper and partners or shareholders, holding more than one percent of the total capital	Indian Adult Education Association 17-B, Indraprastha Estate New Delhi – 110 002

I, Dr. Madan Singh, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

Dated: 24-1-2018

Sd/
Dr. Madan Singh
Publisher

Ckki

l/ty iVy

सत्य अहिंसा के अवतार हैं बापू
शान्ति के संचार हैं बापू
यूं तो लाठी और चश्मे की साथ लिए पहचान हैं बापू
वास्तव में, सारा हिन्दुस्तान ही नहीं, सारा जहान हैं बापू।।

गरीब से गरीब की आवाज को दिलाया हक
ऊॅच – नीच का भेद मिटाया सतह तक
शांन्ति व भाईचारे को पहुंचाया जन – जन तक
ऐसा नाम हैं 'बापू'।।

सपनों का सुनहरा भारत चाहते थे, चाहते हैं बापू
मिटा जाति–पांति, पाट ईर्ष्या की खाई व नशा को कर दूर
खादी व स्वदेशी का बिगुल बजाते, याद आते हैं बापू
भारत छोडो, सत्याग्रह, चम्पारण व नई तालीम के सूत्रधार हैं बापू।।

सबके तात हैं बापू, आत्मदर्शन तो मानों साक्षात हैं बापू
हथकरघे से शुरु होकर व्यापक अर्थशास्त्र हैं बापू
ये न सोंचे, कल ही थे बापू
वरन आज और आगामी कल भी सच और सार्थक हैं बापू।।

समाज के अंतिम जन की पुकार हैं बापू
हर वर्ग के साक्षात भगवान और मानवता की मिठास हैं बापू
सभी को देते संस्कार हैं बापू
हम सबका कभी न खत्म होने वाला प्यार हैं बापू।।

,tsMk & 2030 vkj Hkkjr

21वीं सदी की शुरुआत में सयुक्त राष्ट्र संघ के 189 सदस्य राष्ट्रों द्वारा अनुमोदित मिलेनियम लक्ष्यों के साथ वैश्विक विकास की दिशा में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का वह अध्याय प्रारम्भ हुआ जिसने विश्व भर में हर व्यक्ति विशेष के जीवन को बेहतर, संतुलित एवं प्रगतिशील बनाने की दिशा में उल्लेखनीय सफलता हासिल की। ज्ञात है कि मिलेनियम लक्ष्यों के तहत सभी आठ प्रमुख लक्ष्यों को सन् 2015 तक हासिल किए जाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। परिणामस्वरुप सन् 2000 से 2015 के दौरान विश्व के सभी देशों की सरकारों ने अपने नीति निर्धारण में मिलेनियम लक्ष्यों को प्रमुखता प्रदान करने की कोशिश की। यह वैश्विक विकास की दिशा में वैश्विक सहयोग का पहला चरण था।

सन् 2016 से लेकर 2030 तक समूचे विश्व को मानव मात्र के लिए बेहतर स्थान बनाने तथा हर एक व्यक्ति के लिए सम्मान पूर्ण जीवन सुनिश्चित करने हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ ने एजेंडा – 2030 के तहत सतत विकास लक्ष्य निर्धारित किए हैं। आने वाले 15 वर्षों तक विश्व भर के विकास योजनाओं को निर्धारित करने में इन लक्ष्यों की महत्वपूर्ण भूमिका होगी। गौरतलब है कि इस वर्ष भारत सहित 44 राष्ट्रों ने न्यूयार्क में जुलाई, 2017 में आयोजित होने वाले उच्च स्तरीय राजनीतिक मंच (High-level Political Forum) पर अपनी स्वैच्छिक राष्ट्रीय समीक्षा (वीएनआर) प्रस्तुत किया। यह वह मंच है जहाँ एजेंडा 2030 के अंतर्गत तय लक्ष्यों के सन्दर्भ में विभिन्न देशों द्वारा की गई प्रगति का आकलन किया जाता है। यह एजेंडा 2030 और इस संबंध में भारत द्वारा की गई प्रगति को समझने का एक उपयुक्त अवसर प्रदान करता है।

D;k g, tsMk 2030

- इस एजेंडा के तहत संयुक्त राष्ट्र महासभा की 70वीं बैठक में अगले 15 वर्षों के लिये निर्धारित किये गए 17 सतत विकास लक्ष्य (Sustainable Development Goals-SDG) शामिल हैं जिसके अंतर्गत 169 विकास लक्ष्य समाहित हैं।
- उल्लेखनीय है कि 2000–2015 तक की अवधि के लिये सहसत्राब्दि विकास लक्ष्यों (Millennium Development Goals-MDG) की प्राप्ति की योजना बनाई गई थी जिनकी समयावधि वर्ष 2015 में पूरी हो चुकी है।

- तत्पश्चात, आने वाले वर्षों के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य देशों द्वारा एक नया एजेंडा (SDG-2030) तैयार किया गया जिससे औपचारिक तौर पर सभी सदस्य राष्ट्रों ने अंगीकृत किया है। सतत विकास लक्ष्यों की विस्तृत जानकारी से पहले यह जानना भी महत्वपूर्ण होगा कि वास्तव में सहस्त्राब्दि विकास लक्ष्य क्या थे?

lgL=kfCn fodkl y{;

1. भुखमरी तथा गरीबी को खत्म करना।
2. सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा हासिल करना।
3. लिंग समानता तथा महिला सशक्तीकरण को प्रचारित करना।
4. शिशु–मृत्यु दर घटाना।
5. मातृत्व स्वास्थ्य को बढ़ावा देना।
6. एचआईवी/एड्स, मलेरिया तथा अन्य बीमारियों से निजात पाना।
7. पर्यावरण की सततता।
8. वैश्विक विकास के लिये संबंध स्थापित करना।

गौरतलब है कि भारत ने लिये सहसत्राब्दि विकास लक्ष्यों के तहत लक्षित लक्ष्यों में से एचआईवी/एड्स, गरीबी, सार्वभौमिक शिक्षा तथा शिशु मृत्युदर के निर्धारित मानकों को 2015 तक प्राप्त कर लिया है। जबकि अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति में भारत अभी भी बहुत पीछे है। हालाँकि सहस्त्राब्दि विकास लक्ष्यों को एजेंडा 2030 में निहित लक्ष्यों के अंतर्गत ही शामिल कर लिया गया है।

lrr fodkl y{;

- ट्रांसफॉर्मिंग आवर वर्ल्डः द 2030 एजेंडा फॉर सस्टेनेबल डेवलपमेंट के संकल्प को, जिसे सतत विकास लक्ष्यों के नाम से भी जाना जाता है।
- भारत सहित 193 देशों ने सितंबर, 2015 में संयुक्त राष्ट्र महासभा की उच्च स्तरीय पूर्ण बैठक में इसे स्वीकार किया गया और एक जनवरी, 2016 को इसे लागू किया गया।
- इसके तहत 17 लक्ष्य तथा 169 उपलक्ष्य निर्धारित किये गए जिन्हें 2016–2030 की अवधि में प्राप्त करना है। उल्लेखनीय है कि इसमें से लक्ष्य सहस्त्राब्दि लक्ष्यों से लिये गए है, जिन्हें और व्यापक बनाते हुए अपनाया गया है।

l;qDr jk"Vª dk ,tsaMk 2030] esa dqy 17 y{;ksa dk fu/kkZj.k fd;k x;k gS tks bl izdkj lsa gSA

- गरीबी के सभी रूपों की पूरे विश्व से समाप्ति।
- भूख समाप्ति, खाद्य सुरक्षा और बेहतर पोषण और टिकाऊ कृषि को बढ़ावा।
- सभी उम्र के लोगों में स्वास्थ्य सुरक्षा औंर स्वस्थ जीवन को बढ़ावा।
- समावेशी और न्यायसंगत गुणवत्ता युक्त शिक्षा सुनिश्चित करने के साथ ही सभी को सीखने का अवसर देना।
- लैंगिक समानता प्राप्त करने के साथ ही महिलाओं और लड़कियों को सशक्त करना।
- सभी के लिये स्वच्छता और पानी के सतत् प्रबंधन की उपलब्धता सुनिश्चित करना।
- सस्ती, विश्वसनीय, टिकाऊ और आधुनिक ऊर्जा तक पहुँच सुनिश्चित करना।
- सभी के लिये निरंतर, समावेशी और सतत आर्थिक विकास, पूर्ण और उत्पादक, रोज़गार तथा सभ्य काम को बढ़ावा देना।
- लचीली बुनियादी ढ़ाचे, समावेशी और सतत औद्योगीकरण को बढ़ावा।
- देशों के बीच और भीतर असमानता को कम करना।
- सुरक्षित, लचीला और टिकाऊ शहर और मानव बस्तियों का निर्माण।
- स्थायी खपत और उत्पादन पैटर्न को सुनिश्चित करना।
- जलवायु परिवर्तन और उसके प्रभाव से निपटने के लिये तत्काल कार्रवाई करना।
- स्थायी सतत विकास के लिये महासागरों, समुद्र और समुद्री संसाधनों का संरक्षण और उपयोग।
- सतत उपयोग को बढ़ावा देने वाले स्थलीय पारिस्थितिकी प्रणालियों, सुरक्षित जंगलों और जैव विविधता के बढ़ते नुकसान को रोकने का प्रयास करना।
- सतत विकास के लिये शांतिपूर्ण और समावेशी समितियों को बढ़ावा देने के साथ ही सभी स्तरों पर इन्हें प्रभावी, जवाबदेही बनाना ताकि सभी के लिये न्याय सुनिश्चित हो सके।
- सतत विकास के लिये वैश्विक भागीदारी को पुनर्जीवित करने के अतिरिक्ति कार्यान्वयन के साधनों को मजबूत बनाना।

,t Mk 2030 e fufgr mEeh n

सतत विकास से हमारा अभिप्राय ऐसे विकास से है, जो हमारी भावी पीढ़ियों की अपनी जरूरतें पूरी करने की योग्यता को प्रभावित किये बिना वर्तमान समय की आवश्यकताएँ पूरी करे।

सतत विकास लक्ष्यों का उद्देश्य सबके लिये समान, न्यायसंगत, सुरक्षित, शांतिपूर्ण, समृद्ध और रहने योग्य विश्व का निर्माण करना और विकास के तीनों पहलुओं, अर्थात सामाजिक समावेश, आर्थिक विकास और पर्यावरण संरक्षण को व्यापक रूप से समाविष्ट करना है।

सहस्त्राब्दि विकास लक्ष्य के बाद (जो 2000 से 2015 तक के लिये निर्धारित किये गए थे) विकसित इन नए लक्ष्यों का उद्देश्य विकास के अधूरे कार्य को पूरा करना और ऐसे विश्व की संकल्पना को मूर्त रूप देना है, जिसमें चुनौतियाँ कम और आशाएँ अधिक हों।

,tMk 2030 dk lUnHk esa Hkkjr dh ixfr

- भारत लंबे अरसे से सतत विकास के पथ पर आगे बढ़ने का प्रयास कर रहा है और इसके मूलभूत सिद्धांतों को अपनी विभिन्न विकास नीतियों में शामिल करता आ रहा है।
- भारत सरकार की विभिन्न योजनाओं के अंतर्गत एजेंडा 2030 के एक महत्वपूर्ण लक्ष्य गरीबी कम करने के उद्देश्यपूर्ति के लिये सबसे निर्धन वर्ग के कल्याण को प्रमुखता दी गई है।
- सरकार द्वारा कार्यान्वित किये जा रहे अनेक कार्यक्रम सतत विकास लक्ष्यों के अनुरूप हैं, जिनमें मेक इन इंडिया, स्वच्छ भारत अभियान, बेटी बचाओ–बेटी पढ़ाओ, राष्ट्रीय ग्रामीण पेयजल कार्यक्रम, राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन, प्रधानमंत्री आवास योजना–ग्रामीण और शहरी दोनों, प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना, डिजिटल इंडिया, दीनदयाल उपाध्याय ग्राम ज्योति योजना, स्किल इंडिया और प्रधानमंत्री कृषि सिंचाई योजना शामिल हैं।
- इसके अलावा अधिक बजट आवंटनों से बुनियादी सुविधाओं के विकास और गरीबी समाप्त करने से जुडे कार्यक्रमों को बढ़ावा दिया जा रहा है।

dl gkxk Hkkjr dh ixfr dk vkdyu\

- केंद्र सरकार ने सतत विकास लक्ष्यों के कार्यान्वयन पर निगरानी रखने तथा इसके समन्वय की जिम्मेदारी, नीति आयोग को सौंपी है। सांख्यिकी और कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय को संबंधित राष्ट्रीय संकेतक तैयार करने का कार्य सौंपा गया है।
- सांख्यिकी और कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय द्वारा संयुक्त राष्ट्र आर्थिक और सामाजिक परिषद द्वारा प्रस्तावित संकेतकों की वैश्विक सूची से उन संकेतकों की पहचान करना, जो हमारे राष्ट्रीय संकेतक ढ़ांचे के अंतर्गत अपनाए जा सकते हैं।
- इससे जो परिणाम प्राप्त होंगे वे स्वैछिक भारत, वित्तीय समावेशन आदि को उजागर करेंगे। यह विचारणीय है कि भारत इसकी प्रमुख उपलब्धियों जैसे–स्वच्छ भारत, वित्तीय समावेशन आदि को उजागर करेगा।
- सरकार पहले ही मौजूदा कार्यक्रमों और नीतियों की पहचान कर चुकी है जिन्हें सतत विकास लक्ष्यों के अंतर्गत विभिन्न लक्ष्यों से सम्बद्ध किया गया है। सरकार ने स्वैच्छिक राष्ट्रीय समीक्षा के लिये नागरिक समाज से भी सुझाव मांगे हैं।

- परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि नागरिक समाज संगठनों द्वारा दिए गए सुझाव सरकार की रिपोर्ट का हिस्सा होंगे अथवा नहीं।
- स्वैच्छिक राष्ट्रीय समीक्षा प्रक्रिया एक ओर सतत विकास लक्ष्यों की प्राप्ति के संबंध में की गई प्रगति के आकलन का एक उपयुक्त मंच है।

vkj vf/kd ixfr dh vi{kk

- उल्लेखनीय प्रयासों के बावजूद एजेंडा 2030 में तय लक्ष्यों के संबंध में भारत की प्रगति संतोषजनक नहीं कही जा सकती और इसके लिये भारत को निम्न बातों पर ध्यान देना होगाः
- सतत विकास लक्ष्यों को विकास नीतियों में शामिल करने के लिये हमें अनेक मोर्चों पर कार्य करना होगा ताकि पर्यावरण और हमारी पृथ्वी के अनुकूल एक बेहतर जीवन जीने की हमारे देशवासियों की वैध इच्छाओं को पूरा किया जा सके।
- हमारे संघीय ढाँचे में सतत विकास लक्ष्यों की संपूर्ण सफलता में राज्यों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। राज्यों में विभिन्न राज्य स्तरीय विकास योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। इन योजनाओं का सतत विकास लक्ष्यों के साथ तालमेल होना चाहिए।
- केंद्र और राज्य सरकारों को सतत विकास लक्ष्यों के कार्यान्वयन में आनेवाली विभिन्न चुनौतियों का मुकाबला करने के लिये मिलकर काम करने की आवश्यकता है।

fu'd'k

- भारत को यदि एजेंडा 2030 में तय लक्ष्यों को प्राप्त करना है, तो इस तरह की नीति बनानी पड़ेगी जो सभी क्षेत्रों में क्रियान्वित नीतियों से सामंजस्य स्थापित करती हो।
- साथ ही प्रशासनिक एवं छोटे स्तर पर इन नीतियों के क्रियान्वयन हेतु सामंजस्य तथा भागीदारी पर ध्यान देना होगा।
- गौरतलब है कि सहसत्राब्दि विकास लक्ष्यों को वर्ष 2015 तक नहीं प्राप्त कर सके थे तो इसका मुख्य कारण यह था कि इन लक्ष्यों को हासिल करने के लिये तय नीतियों क्रियान्वयन सशक्त नहीं था।
- सतत विकास के लक्ष्यों को यदि हम 2030 तक प्राप्त कर लेते हैं भारत एक विकसित तथा समृद्ध राष्ट्र बन सकता है।

lân;rk

सुभाष–सुभाष, क्या कर रहा है बेटा? पुकारती हुई माता प्रभावती जी उनके कमरे में आ गई। सुभाष कमरे में नहीं थे। अचानक उनकी दृष्टि अलमारी की ओर गई। चीटियों की एक लम्बी कतार अलमारी के अन्दर जा रही थी। अलमारी खोली तो देखा कि पुस्तकों के पीछे कुछ सूखी रोटियाँ पड़ी है। बालक के इस विचित्र कार्य पर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। तभी सुभाष कहीं से आ गए और बिना बोले माँ के पास चुपचाप खड़े हो गए। माँ ने पूछा क्या बात है? बेटे! आज तू कुछ उदास लग रहा है। ये अलमारी में रोटियाँ क्यों रखी हैं?

रोटियों की बात आते ही उनकी आँखों से आँसू छलक आए। भरे गले से उन्होंने बताया– माँ! मैं अपने स्कूल के रास्ते में रोज एक रोटी एक बूढ़ी माँ को देता था जो चौराहे के पास भीख माँगा करती थी। कई दिनों से वह नहीं मिली इसलिए उनके हिस्से की रोटी बचाकर अलमारी में रख रहा हूँ। मैं अभी–अभी वहीं से आ रहा हूँ, अब वह कभी नहीं मिलेगी। उसकी मृत्यु हो गई है। यह कहते हुए जोर–जोर से रोने लगे। माताजी उसे गले से लगाकर सांत्वना देने लगी। एक भिखारिन के प्रति बालक की इतनी गहरी आत्मीयता देखकर माँ का हृदय भर आया। उनकी आँखों में आँसू आ गए। प्रेम विभोर हो कर बोली – बेटा! तुझे जन्म देकर मैं धन्य हो गई। तू मनुष्य नहीं किसी देवता का अंश है।

इस विशाल सहृदयता और आत्मीयता का प्रभाव सुभाष बाबू के समग्र जीवन में झलकता है। जन–जन का दुःख दर्द उनका अपना दुःख बन गया। कदाचित इसीलिए भारत की स्वाधीनता उनका संकल्प बन गया।

भारतीय लोगों में यह अडिग विश्वास होना चाहिए कि भारत का उत्थान अवश्य होगा और यह महान बनेगा तथा हर वो चीज जो घटित हो चुकी है प्रत्येक कठिनाई, प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थिति अवश्य ही इसे आगे बढ़ाने में मददगार होगी। भारत के भाग्य के सूर्य का उदय होगा और यह अपने प्रकाश से समस्त भारत को प्रकाशवान करेगा और इससे भारत प्रकाशवान होगा और एशिया भी प्रकाशवान होगा तथा सम्पूर्ण विश्व प्रकाशवान होगा। शेष बची 21 वीं सदी भारत की होगी।

– श्री अरबिन्दो घोष

mRihfMrk dk f'k{kk'kkL=

ikyk Ýj

(शिक्षा क्या है? इसका उददेश्य क्या है? इसका स्वरुप क्या होना चाहिए? शिक्षक और छात्र के बीच का संबंध कैसा होना चाहिए? पाठयक्रम में क्या शामिल किया जाना चाहिए और क्या नहीं? जैसे मौलिक प्रश्न शिक्षा के व्यापक अवधारणा के महत्वपूर्ण अंग हैं। विश्व के अनेक शिक्षाशास्त्रियों ने समय–समय पर इन प्रश्नों का युगानुकूल उत्तर देने का प्रयास किया है जिनके कारण दुनिया भर के शिक्षा प्रणाली में क्रांतिकारी प्ररिवर्तन हुआ है। पॉलो फ्रेरे की चिन्तन ने भी दुनिया भर के शिक्षा प्रणाली को व्यापक रुप से प्रभावित किया है। उनकी चिन्तन में उपरोक्त प्रश्नों का मौलिक उत्तर प्राप्त होता है। प्रस्तुत है उनकी बहुचर्चित पुस्तक 'पेडागॉगी ऑफ ऑप्रेस्ड (उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र)' के कुछ चयनित अंश जो मात्र प्रौढ़ शिक्षा ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण शिक्षा जगत में व्याप्त समस्याओं के निराकरण में सहायक सिद्ध होते हैं।)

स्कूल के अंदर का हो या बाहर का, किसी भी स्तर के शिक्षक–छात्र संबंध का सावधानी से विश्लेषण किया जाय तो पता चलता है कि इस संबंध का चरित्र मूलतः वर्णनात्मक है। इस संबंध में एक ओर वर्णनकारी शिक्षक होता है और दूसरी ओर उसकी धैर्यवान, श्रवणकारी वस्तुएं अर्थात छात्र होते हैं। मूल्य हों या यथार्थ के प्रत्यक्ष आयाम, जिन चीजों का वर्णन किया जाता है, वे वर्णन की प्रक्रिया में निर्जीव हो जाती हैं। शिक्षा वर्णन के रोग से पीड़ित है।

शिक्षक यथार्थ के विषय में इस तरह बोलता है, मानो वह (यथार्थ) कोई गतिहीन, स्थिर, खानों में बंटी हुई ऐसी चीज हो जिसके विषय में भविष्यवाणी की जा सकती हो। या फिर वह किसी ऐसे विषय का प्रतिपादन करता है, जिसका छात्रों के अस्तित्वगत अनुभव से कोई संबंध नहीं होता। उसका काम है अपने वर्णन की अंतर्वस्तुओं से छात्रों को 'भर देना'। और वे अंतर्वस्तुएं यथार्थ से कटी हुई होती हैं। इस प्रक्रिया में शब्दों से उनका ठोसपन गायब हो जाता है और वे ऐसा खोखला वाग्जाल बन जाते हैं, जो यथार्थ से अलग होता है और अलगाव पैदा करता है।

अतः इस वर्णात्मक शिक्षा की प्रमुख विशेषता शब्दों की निनादिता होती है, न की उनकी रूपान्तरकारी शक्ति। उदाहरण के लिए 'चार चौके सोलह होते हैं; पारा की राजधानी बेलेम है।' छात्र इन बातों को सुनता है, रटता है और यह जाने बिना लगातार दोहरता रहता है

कि 'चार चौके सोलह' का वास्तव में क्या अर्थ है, या 'पारा की राजधानी बेलेम है' में 'राजधानी' का असली मतलब क्या है, अर्थात पारा के लिए बेलेम का और ब्राजील के लिए पारा का क्या अर्थ है। वर्णन, जिसमें शिक्षक वर्णनकर्ता होता है, छात्रों को वर्णित वस्तुओं को यांत्रिक ढ़ंग से रट लेने की ओर ले जाता है। इससे भी बुरी बात यह है कि वह छात्रों को 'पात्र' या बर्तन बना देता है जिन्हें शिक्षक द्वारा भरा जाना होता है। जो इन पात्रों को जितना ज्यादा भर सके, वह उतना ही अच्छा शिक्षक। जो जितने ज्यादा दब्बूपन के साथ स्वयं को उभरने दें, वे उन्हें अच्छे छात्र।

इस प्रकार शिक्षा बैंक में पैसा जमा करने की भांति छात्रों में ज्ञान राशि जमा करने जैसा काम बन जाती है जिसमें शिक्षक जमाकर्ता होता है और छात्र जमादार होते हैं। इसमें शिक्षक सम्प्रेषण करने के बजाय विज्ञप्तियां जारी करता है। वह जिन चीजों को 'जमा करता' है, छात्र उन्हें धैर्यपूर्वक ग्रहण करते हैं, रटते हैं और दोहराते हैं। यह शिक्षा की 'बैंकीय अवधारणा है, जिसमें छात्रों की सक्रियता के लिए सिर्फ इतनी गुंजाइश होती है कि वे जमाओं को ग्रहण कर लें, फाइल कर लें और संभालकर रखे रहें।' इस प्रकार यह तो सच है कि वे जिन चीजों को जमा रखते हैं उनके संग्राहक और सुचीकार बनने का अवसर पाते हैं, लेकिन अंततः वे इस व्यवस्था में, जिसे (सर्वोत्तम शब्दों में भी) विभ्रांत व्यवस्था ही कहा जा सकता है, मनुष्य नहीं रहते और सृजनात्मकता, रूपांतरण तथा ज्ञान के अभाव में स्वयं हीं फाइल होकर रह जाते हैं। कारण यह है कि जिज्ञासा के बिना, चिन्तन और कर्म से युक्त आचरण के बिना, मनुष्य सचमुच मानवीय नहीं बन सकते। ज्ञान होता है आविष्कार और पुनराविष्कार करने सेः उस बेचैन, अधीर, सत्त और आशायुक्त जिज्ञासा से, जिसकी पूर्ति के लिए मनुष्य विश्व में, विश्व के साथ और एक दूसरे के साथ सक्रिय होते हैं।

शिक्षा के बैंकीय अवधारणा में ज्ञान एक उपहार होता है, जो स्वयं को ज्ञानवान समझने वालों के द्वारा उनको दिया जाता है, जिन्हें वे नितांत अज्ञानी मानते हैं। दूसरों को परम अज्ञानी बताना उत्पीड़न की विचारधारा की विशेषता है। वह शिक्षा और ज्ञान को जिज्ञासा की प्रक्रिया नहीं मानती। शिक्षक अपने छात्रों के समक्ष स्वयं को एक आवश्यक विलोम के रूप में प्रस्तुत करता है; उन्हें परम अज्ञानी मानकर वह अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करता है। छात्र, हेगेलीय द्वंद्ववाद के दासों की भांति, अलगाव के शिकार होने के कारण अपने अज्ञान को शिक्षक के अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करने वाला समझते हैं– लेकिन इस फर्क के साथ कि दास तो अपनी वास्तविकता को जान लेता है (कि मालिक का अस्तित्व उसके अस्तित्व पर निर्भर है) लेकिन ये छात्र अपनी इस वास्तविकता को कभी नहीं जान पाते कि वे भी शिक्षक को शिक्षित करते हैं।

दूसरी तरफ, स्वातंत्र्यवादी शिक्षा का उद्देश्य शिक्षक और छात्र के बीच सामंजस्य उन्पन्न करना होता है। शिक्षा का आरंभ शिक्षक–छात्र अंतर्विरोध का समाधान करते हुए ही होना चाहिए और यह तभी हो सकता है, जब अतंर्विरोध के दोनों ध्रुवों को मिला दिया जाय, ताकि दोनों एक ही साथ शिक्षक और छात्र बन जाएं।

यह समाधान शिक्षा की बैंकीय अवधारणा में न तो पाया जाता है और न ही पाया जा सकता है। इसके विपरीत, बैंकीय शिक्षा तो इस अंतर्विरोध को कायम रखती है। यहां तक की वह समग्ररूप में उत्पीड़न को प्रतिबिंबित करने वाले निम्नलिखित रवैयों और रिवाजों के जरिये उसे बढ़ाती भी है:

1. शिक्षक पढ़ाता है और छात्र पढ़ाये जाते हैं।
2. शिक्षक सब कुछ जानता है और छात्र कुछ भी नहीं जानते।
3. शिक्षक सोचता है और छात्रों के बारे में सोचा जाता है।
4. शिक्षक बोलता है और छात्र सुनते हैं – चुपचाप।
5. शिक्षक अनुशासन लागू करता है और छात्र अनुशासित होते हैं।
6. शिक्षक अपनी मर्जी का मालिक है, वह अपनी मर्जी चलाता है और छात्रों को उसकी मर्जी के मुताबिक चलना पड़ता है।
7. शिक्षक कर्म करता है और छात्र उसके कर्म के जरिये सक्रिय होने के भ्रम में रहते हैं।
8. शिक्षक पाठ्यक्रम बनाता है और छात्रों को (जिनसे पाठ्यक्रम बनाते समय कोई सलाह नहीं ली जाती) वही पढ़ना पड़ता है।
9. शिक्षक अपने पेशेवर अधिकार को ज्ञान का अधिकार समझता है (स्वयं को अपने विषय का अधिकारी विद्वान समझता है) और उस अधिकार को छात्रों की स्वतंत्रता के विरूद्ध इस्तेमाल करता है।
10. शिक्षक अधिगम की प्रक्रिया का कर्ता होता है और छात्र महज अधिगम की वस्तुएं।

आश्चर्य नहीं की शिक्षा की बैंकीय अवधारणा में मनुष्यों को अनुकूलनीय और प्रबंधनीय माना जाता है। छात्र स्वयं को दी जाने वाली जितनी अधिक 'जमाओं' का संग्रह करते हैं, उतनी ही कम उनकी वह आलोचनात्मक चेतना विकसित हो पाती है, जो विश्व का रूपान्तरण करने वालों के रूप में विश्व में उनके हस्तक्षेप का परिणाम होती है। स्वयं पर थोप दी गयी निष्क्रियता की भूमिका को वे जितनी अधिक पूर्णता के साथ स्वीकार करते हैं, उतनी ही सरलता के साथ वे विश्व से–वह जैसा भी है–और यथार्थ के उस विखंडित दृष्टिकोण से, जो उनके अंदर जमा कर दिया गया होता है, स्वयं को अनुकूलित कर लेते हैं।

बैंकीय शिक्षा छात्रों की सृजनात्मक शक्ति को न्यूनतम कर देती है या समाप्त कर देती है और झट से विश्वास कर लेने की प्रवृत्ति को बढ़ाती है। इसलिए वह उत्पीड़कों का हित साधन करती है, जो न तो यह परवाह करते हैं कि विश्व की वास्तविकता लोगों के सामने आये और न यह चाहते हैं कि उनका रूपांतरण हो। उत्पीड़क अपने 'लोकोपकारवाद' का इस्तेमाल एक लाभकारी स्थिति को बनाये रखने के लिए करते हैं। अतः वे, लगभग नैसर्गिक रूप से, शिक्षा में किए जाने वाले ऐसे किसी भी प्रयोग का विरोध करते हैं, जो छात्रों की आलोचनात्मक क्षमताओं को बढ़ाए और यथार्थ के एकांकी दृष्टिकोण से संतुष्ट न रहकर हमेशा उन संबंधों को देखने की कोशिश करे, जो एक बात को दूसरी बात से और एक समस्या को दूसरी समस्या से जोड़ते हैं।

वास्तव में उत्पीड़कों का हित, जैसा की सिमोन द बुआ ने कहा है, इसमें होता है कि "उत्पीड़ितों की चेतना को बदला जाय, न की उनका उत्पीड़न करने वाली स्थिति को"; क्योंकि उत्पीड़ितों को जितना ही उस स्थिति से अनुकूलित होने की दिशा में ले जाया जायेगा, उतनी ही आसानी से उन पर प्रभुत्व जमाया और बनाये रखा जा सकेगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उत्पीड़क शिक्षा की बैंकीय अवधारणा को एक पैतृकवादी सामाजिक कर्म के तंत्र के साथ इस्तेमाल करते हैं, जिसके अंदर उत्पीड़कों को 'कल्याण प्रापक' की श्रुतिमधुर उपाधि प्राप्त होती है। इस तंत्र में उत्पीड़ितों को एक वर्ग, समुदाय अथवा आम जनता के रूप में नहीं, बल्कि निजी मामलों के रूप में देखा जाता है और उनके साथ ऐसे सामंतीय मनुष्यों का–सा व्यवहार किया जाता है, जो मानो एक 'अच्छे, संगठित और न्यायपूर्ण' समाज के सामान्य संगठन से विचलन करके स्वयं ही हाशिये पर चले गये हों। उत्पीड़ितों को स्वस्थ समाज की एक विकृति माना जाता है अतः समाज का कर्तव्य यह बताया जाता है कि वह इन 'अक्षम और आलसी' लोगों की मानसिकता को बदले और इन्हें अपने नमूनों के मुबाबिक ढ़ालकर समायोजित करे। इन सीमांतीय लोगों को उस स्वस्थ समाज में 'संघटित करना', 'शामिल करना' आवश्यक है, जिसका इन्होंने 'परित्याग' कर रखा है।

लेकिन सच यह है कि उत्पीड़ित लोग सीमांतीय अथवा हाशिये पर के लोग नहीं हैं। वे ऐसे मनुष्य नहीं हैं, जो समाज के 'बाहर' रहते हों। वे हमेशा भीतर रहे हैं–उस संरचना के भीतर, जिसने उन्हें 'दूसरों के लिए जीने वाला' बना रखा है। उनकी समस्या का समाधान उत्पीड़न की संरचना में उन्हें 'संघटित' करना नहीं, बल्कि उस संरचना को बदलना है, ताकि वे 'स्वाधीन प्राणी' बन सकें। निश्चय ही ऐसा बदलाव उत्पीड़कों के प्रयोजनों की जड़ खोदने वाला होगा। यही कारण है कि वे छात्रों के विवेकीकरण से डरते हैं और इस खतरे को टालने के लिए शिक्षा की बैंकीय अवधारणा का इस्तेमाल करते हैं।

उदाहरण के लिए, प्रौढ़ शिक्षा में बैंकीय दृष्टिकोण छात्रों को यह कभी नहीं बताएगा कि वे यथार्थ पर आलोचनात्मक ढ़ंग से विचार करें। इसके बजाय यह ऐसे अत्यावश्यक प्रश्न उठाऐगा कि 'रोजर ने बकरी को हरी घास डाली' या 'रोजर ने खरगोश को हरी घास डाली' और आग्रह करेगा कि छात्र इस बात को जान लें और याद कर लें। बैंकीय दृष्टि का 'मानववाद' मनुष्यों को स्वचालित यंत्र बनाने की कोशिश पर पर्दा डालता है– जो पूर्णतर मनुष्य बनने के उनके सत्तामूलक प्रयास का ही निषेध है।

बैंकीय दृष्टिकोण का उपयोग करने वाले लोग जान–बूझ कर या अनजाने हीं (अनजाने इसलिए कि ऐसे असंख्य बैंक–कलर्कनुमा शिक्षक होते हैं, जो यह नहीं समझते कि वे जो कुछ कर रहे हैं, वह केवल अमानुषिक बनाने वाला काम है) यह देखना भूल जाते हैं कि उनकी 'जमाओं' में यथार्थ के बारे में अंतर्विरोध भरे हुए हैं। लेकिन ये अंतर्विरोध छात्रों को, जो अभी तक निष्क्रिय थे, देर सबेर स्वयं को पालतू बनाये जाने के विरूद्ध और यथार्थ को अपने वश में करने की दिशा में ले जा सकते हैं। अपने अस्तित्वगत अनुभव से वे इस सत्य को खोज सकते हैं कि उनके जीवन के वर्तमान ढ़ंग और उनके पूर्णतर मनुष्य बनने के प्रयास में कभी सामंजस्य नहीं हो सकता। वे यथार्थ से अपने संबंधों के जरिये यह देख सकते हैं कि यथार्थ वास्तव में एक प्रक्रिया है जो निरंतर बदलती रहती है। मनुष्य खोजी हैं और उनका सत्तामूलक उद्देश्य मानुषीकरण है, अतः आज नही ंतो कल वे उस अंतर्विरोध को जान सकते हैं, जिसमें बैंकीय शिक्षा उन्हें बनाये रखना चाहती है, और तब वे अपनी मुक्ति के संघर्ष में संलग्न हो सकते हैं।

लेकिन मानववादी और क्रांतिकारी शिक्षक इस संभावना के यथार्थ में परिणत हो जाने की प्रतिक्षा करता नहीं रह सकता। उसके प्रयास तो आरंभ से ही छात्रों के प्रयास से मेल खाने वाले होने चाहिए, ताकि वह और उसके छात्र आलोचनात्मक चिन्तन और पारस्परिक मानुषीकरण के अन्वेषण में संलग्न हो सकें। उसके प्रयास मनुष्यों और उनकी सष्जनात्मक शक्ति में गहन विश्वास अनुप्राणित होने चाहिए। इसके लिए उसे अपने छात्रों के साथ ऐसे संबंध बनाने चाहिए कि वह उनका साझेदार हो सके।

बैंकीय अवधारणा में ऐसी साझेदारी के लिए कोई जगह नहीं है और उसमें इसके लिए जगह न होना जरूरी भी है, क्योंकि ऐसी साझेदारी से शिक्षक–छात्र अंतर्विरोध का समाधान होता हैः शिक्षक जमाकर्ता, निर्देशक और पालतू बनाने वाला न रहकर छात्रों के बीच एक छात्र बन जाता है; और यह चीज उत्पीड़न की जड़ खोदने वाली तथा मुक्ति के उद्देश्य को पूरा करने वाली हो जाती है।

बैंकीय अवधारणा में यह मान्यता अंतर्निहित है कि मनुष्य और विश्व अलग–अलग हैं : मनुष्य विश्व में है, विश्व के या अन्य मनुष्यों के साथ नहीं। मनुष्य केवल दर्शक है, पुनर्सर्जक नहीं। इस दृष्टि के अनुसार मनुष्य सचेत प्राणी नहीं बल्कि एक चेतना का स्वामी है; एक खाली 'मस्तिष्क' है, जो निष्क्रिय रह कर बाह्य विश्व से आने वाली यथार्थ की 'जमाओं' को ग्रहण करता रहता है। उदाहरण के लिए मेरी मेज, मेरी पुस्तकें, मेरा कॉफी का प्याला आदि जो सभी वस्तुएं मेरे सामने हैं–मुझे घेरे रहने वाले विश्व के टुकड़ों के रूप में–ठीक वैसे ही मेरे 'अंदर' होंगी, जैसे इस समय मैं अपने अध्ययन कक्ष के अंदर हूं। यह दृष्टि 'चेतना के प्रवेश्य' और 'चेतना के प्रविष्ट' के बीच कोई भेद नहीं करती। लेकिन यह भेद तात्विक है और अवश्य किया जाना चाहिए। जो वस्तुएं मुझे घेरे हुए हैं, वे महज मेरी चेतना में प्रवेश्य हैं, उसके भीतर स्थित नहीं हैं। मुझे उनका भान है, लेकिन वे मेरे भीतर नहीं हैं।

चेतना की बैंकीय धारणा का तर्क इस निष्कर्ष पर पहुंचाता है कि शिक्षक की भूमिका विश्व को छात्रों के भीतर 'घुसाने' के तरीके का नियमन करने की है। उसका काम उस प्रक्रिया को संगठित करना है, जो पहले से ही स्वतः प्रवर्तित ढ़ंग से चल रही है। इस प्रक्रिया में शिक्षक सूचना की उन 'जमाओं' से, जिन्हें वह सच्चा ज्ञान समझता है, छात्रों को 'भरता' रहता है। इस प्रकार मनुष्य चूंकि विश्व को निष्क्रिय चीजों के रूप में 'ग्रहण' करते हैं, इसलिए शिक्षा उन्हें और ज्यादा निष्क्रिय बनाती है तथा विश्व से अनुकूलित करती है। शिक्षित मनुष्य अनुकूलित मनुष्य होता है, क्योंकि वह विश्व के लिए अधिक 'फिट' होता है। यह अवधारणा व्यवहार में आने पर उत्पीड़कों के प्रयोजनों के लिए बड़े काम की होती है, क्योंकि उनका सुख–चैन इसी पर निर्भर करता है कि उनके द्वारा निर्मित विश्व में मनुष्य कितनी अच्छी तरह 'फिट' होते हैं और उसके बारे में कितने कम सवाल उठाते हैं।

प्रभुत्वशाली अल्पसंख्यक वर्ग अपने प्रयोजनों को पूरा करने का निर्देश बहुसंख्यक लोगों को देता है (और इस प्रकार उन्हें उनके अपने प्रयोजनों को पूरा करने के अधिकार से वंचित कर देता है)। बहुसंख्यक लोग स्वयं को उसके प्रयोजनों से जितना अधिक अनुकूलित करते हैं, उतनी ही अधिक आसानी से अल्पसंख्यक शासक वर्ग उन्हें निर्देश देता रह सकता है। बैंकीय शिक्षा का सिद्धांत और व्यवहार उसके इस उद्देश्य को बड़ी निपुणता से पूरा करता है। शब्दाडंबर वाले पाठ, पाठ्यक्रमों का ऊलजलूल निर्धारण, 'ज्ञान' के मूल्यांकन की पद्धतियां, शिक्षक और छात्र के बीच की दूरी, परीक्षा पास करने से संबंधित मापदंड आदि की दृष्टि से हर चिन्तन को अनावश्यक बनाती है।

बैंक–कलर्कनुमा शिक्षक इसी में अपनी सुरक्षा देखता है, लेकिन यह नहीं समझता कि उसकी इस भूमिका में कोई सच्ची सुरक्षा नहीं है। सच्ची सुरक्षा के लिए तो दूसरों के साथ एकजुट होकर जीने का प्रयत्न करना आवश्यक है। शिक्षक अपने छात्रों पर न तो स्वयं को

थोप सकता है, न उनके साथ महज सह–अस्तित्व बना कर रह सकता है। उसे अपने छात्रों के साथ एकजुट होना चाहिए और एकजुटता के लिए सच्चा सम्प्रेषण आवश्यक है। लेकिन बैंकीय अवधारणाओं को लेकर चलने वाला शिक्षक सम्प्रेषण से डरता है और उसे रोकता है।

लेकिन मानव जीवन सम्प्रेषण से ही सार्थक बनता है। शिक्षक का चिन्तन छात्रों के चिन्तन की प्रामाणिकता से हीं प्रमाणीकष्त होता है। शिक्षक न तो अपने छात्रों के लिए चिन्तन कर सकता है और न अपने विचारों को उन पर थोप सकता है। प्रमाणिक चिन्तन अर्थात यथार्थ से सरोकार रखने वाला चिन्तन हाथी दांत की मीनारों के एकाकीपन में नहीं, सम्प्रेषण में ही संभव है। यदि यह सच है कि विचार विश्व पर किये गये कार्य से निकलने पर ही अर्थवान बनता है, तो छात्रों का शिक्षकों के अधीन रहने का प्रश्न ही नहीं उठता।

बैंकीय शिक्षा चूंकि मनुष्यों को वस्तुओं के रूप में मान कर चलने की मिथ्या समझ से शुरू होती है, इसलिए वह 'जीवन–प्रेम' के विकास को बढ़ावा नहीं देती, बल्कि इसकी विपरीत चीज 'मृत्यु–प्रेम' पैदा करती है। फ्रॉम ने 'दि हार्ट ऑफ मैन' में कहा हैः

''जीवन की विशेषता है संरचनात्मक और प्रकार्यात्मक ढंग से होने वाली वृद्धि, लेकिन मृत्यु से प्रेम करने वाला व्यक्ति उस सबसे प्रेम करता है, जिसमें वृद्धि नही होती, जो यांत्रिक होता है। मृत्यु से प्रेम करने वाला व्यक्ति सजीव को निर्जीव में बदलने की इच्छा से, जीवन को यांत्रिक ढंग से देखने की इच्छा से, प्रेरित होता है; जैसे तमाम जीवित मनुष्य चीज़ें हों। उसके लिए मूल्य अनुभव का नहीं, स्मृति का होता है; अस्तित्व का नहीं, स्वामित्व का होता है। मृत्यु से प्रेम करने वाला व्यक्ति किसी वस्तु से चाहे वह फूल हो या मनुष्य–अपना संबंध तभी जोड़ पाता है, जब वह उसका स्वामी हो। अतः उसके स्वामित्व के लिए पैदा होने वाला ख़तरा स्वयं उसी के लिए खतरा बन जाता है। स्वामित्व समाप्त हो जाए तो विश्व से उसका संपर्क समाप्त हो जाता है। उसे नियंत्रण से प्रेम होता है, और नियंत्रण करने की क्रिया में वह जीवन की हत्या करता है।''

उत्पीड़न–अर्थात् अत्यधिक नियंत्रण–मृत्यु से प्रेम करना है। वह जीवन–प्रेम से नहीं, बल्कि मृत्यु–प्रेम से पोषित होता है। शिक्षा की बैंकीय अवधारणा भी, जो उत्पीड़न का हित–साधन करती है, मृत्यु–प्रेमी होती है। चेतना के यांत्रिकतावादी, जड़, प्रकृतवादी और हवाई दृष्टिकोण पर आधारित होने के कारण वह छात्रों को मात्र ग्रहण करने वाली वस्तुओं में बदल देती है। वह चिंतन और कर्म को नियंत्रित करने का प्रयास करती है, मनुष्यों को विश्व से समझौता करने के लिए प्रेरित करती है, और उनकी सृजनात्मक शक्ति को अवरूद्ध करती है।

मनुष्य जब उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से कर्म करने के प्रयासों में असफल होकर हताश होते हैं; जब वे पाते हैं कि अपनी शक्ति और क्षमता का उपयोग करने में असमर्थ हैं; तो वे तकलीफ़ पाते हैं। फ्रॉम का कहना है कि ''नपुंसकता से पैदा होने वाली इस तकलीफ़ की जड़ें इस तथ्य में हैं कि मानवीय संतुलन बिगड़ चुका हैं।'' लेकिन कर्म करने में असमर्थ होना, जिससे मनुष्यों को तीव्र मनोव्यथा होती है, उन्हें अपनी नपुंसकता को त्यागने की ओर भी ले जाता है। और ऐसा वे कर सकते हैः

'कर्म करने की (अपनी) क्षमता का पुनरूद्धार करने से। लेकिन क्या यह संभव है? और संभव है, तो कैसे? इसका एक तरीक़ा यह है कि एक शक्तिशाली व्यक्ति या समूह से तदाकार होकर उसके आगे आत्मसमर्पण कर दिया जाए। अन्य व्यक्ति के जीवन में की गई इस प्रतीकात्मक सहभागिता से कर्म करने का भ्रम तो होता हैं, लेकिन वास्तव में यह आत्मसमर्पण है और ऐसा करने से केवल यह होता है कि मनुष्य उनके अंग बन कर रह जाते हैं, जो कर्म करते हैं।'

उत्पीड़ितों के इस व्यवहार के सबसे अच्छे उदाहरण शायद उन अंधलोकवादी प्रवृत्तियों में पाए जाते हैं, जिनमें वे चमत्कारी नेताओं से तदाकार होकर यह महसूस करने लगते हैं कि वे स्वयं सक्रिय और प्रभावी हो गए हैं। इस प्रकार एक ऐतिहासिक प्रक्रिया में उभरने वाला उनका विद्रोह प्रभावी ढंग से कर्म करने की उनकी इच्छा से प्रेरित होता है। प्रभुत्वशाली अभिजन जानते हैं कि इसका एक ही इलाज हैः और अधिक प्रभुत्व तथा दमन, जो स्वतंत्रता, व्यवस्था और सामजिक शांति (अर्थात् अभिजनों की शांति) के नाम पर किया जाता है। इस प्रकार वे तर्कपूर्ण ढ़ग से–अर्थात् अपने दृष्टिकोण के अनुसार तर्कपूर्ण ढंग से–जैसा कि नीबुहर ने 'मॉरल मैन एंड इम्मॉरल सोसायटी' में कहा है, एक ही सांस में ''मजदूरों द्वारा की गई हड़ताल की हिंसा' की भर्त्सना कर सकते हैं और ''उसी सांस में हड़ताल समाप्त कराने के लिए राज्य से हिंसा का प्रयोग करने के लिए भी कह सकते हैं।''

प्रभुत्व जमाने और कायम रखने के काम आने वाली शिक्षा छात्रों के अंदर प्रभु वर्ग की बातों पर झट से विश्वास कर लेने की प्रवृति को बढ़ाती है, जिसका विचारधारात्मक उद्देश्य (जो शिक्षक को अक्सर दिखाई नहीं देता) यह होता है कि छात्रों को उत्पीड़न की दुनिया के अनुकूल बनना सिखाया जाए। यह आरोप इस भोली आशा से नहीं लगाया जा रहा है कि महज इतने से ही प्रभुत्वशाली अभिजन अपने इस व्यवहार को छोड़ देंगे। इसका उद्देश्य सच्चे मानववादियों का ध्यान इस तथ्य की ओर खींचना है कि वे मुक्ति के प्रयास में बैंकीय शिक्षा की पद्धतियों का इस्तेमाल नहीं कर सकते, क्योंकि उसकी पद्धतियां उनके इस प्रयास का ही निषेध करने वाली होती हैं। कोई क्रांतिकारी समाज भी उत्पीड़क समाज की इन पद्धतियों की विरासत को स्वीकार नहीं कर सकता। क्रांतिकारी समाज बैंकीय शिक्षा को

अपनाता है, वह या तो दिग्भ्रमित समाज है, या मनुष्यों पर भरोसा न करने वाला समाज। दोनों ही स्थितियों में ऐसे समाज पर प्रतिक्रिया के प्रेत का ख़तरा मंडराता है।

दुर्भाग्य से, मुक्ति का उद्देश्य लेकर चलने वाले लोग स्वयं भी उस वातावरण से घिरे रहते हैं और प्रभावित होते हैं, जो बैंकीय अवधारणा को उत्पन्न करता है। उन्हें अक्सर इसके वास्तविक अर्थ का या इसकी अमानुषीकरणकारी शक्ति का बोध नहीं होता। अतः वे, विरोधाभासी ढंग से, अलगाव के इस औज़ार का इस्तेमाल उस चीज के लिए करते हैं, जिसे वे मुक्ति का प्रयास समझते हैं। सच तो यह है कि कुछ 'क्रांतिकारी' बैंकीय शिक्षा को चुनौती देने वालों को भोले, स्वप्नजीवी और जहां तक कि प्रतिक्रियावादी भी घोषित कर देते हैं। लेकिन मनुष्यों की मुक्ति उन्हें अलगाव का शिकार बना कर नहीं हो सकती। सच्ची मुक्ति–जो मानुषकीकरण की प्रक्रिया है – मनुष्यों में की जाने वाली एक और 'जमा' नहीं है। मुक्ति एक अचारण है : मनुष्यों द्वारा अपने विश्व का रूपांतरण करने के लिए उस पर किया जाने वाला चिंतन और कर्म। जो लोग सचमुच मुक्ति से प्रतिबद्ध हैं, वे न तो चेतना की उस यांत्रिक अवधारणा को स्वीकार कर सकते हैं, जिसके अनुसार चेतना एक खाली बर्तन है जिसे भरा जाना है, और न वे मुक्ति के नाम पर प्रभुत्व की पद्धतियों (प्रचार, नारों–अर्थात् 'जमाओं') को अपना सकते हैं।

जो लोग सचमुच प्रतिबद्ध हैं, उन्हें बैंकीय अवधारणा को अवश्य ख़ारिज करना चाहिए और उसे उसकी संपूर्णता में ख़ारिज करना चाहिए। इसकी जगह उन्हें इस अवधारणा को अपनाना चाहिए कि मनुष्य सचेत प्राणी है और चेतना विश्व को समझने तथा बदलने की चेतना है। उनके लिए यह निहायत ज़रूरी है कि वे 'जमा करने' वाले शैक्षिक उद्देश्य को त्यागें और उसकी जगह मनुष्यों की समस्याओं को विश्व से उनके संबंधों की समस्याओं के रूप में उठाना शिक्षा का उद्देश्य मानें। 'समस्या–उठाऊ' शिक्षा चेतना के सार संकल्पशीलता को स्वीकार करते हुए विज्ञप्तियों को ख़ारिज करती है और संप्रेषण का मूर्त रूप होती है। वह चेतना की इस विशिष्ट विशेषता का प्रतीक है कि चेतना केवल वस्तुओं की बाह्य चेतना नहीं होती, बल्कि पास्परीय 'विभाजन' के रूप में स्वयं अपनी भी चेतना होती है – अर्थात् चेतना की चेतना।

मुक्तिदाई शिक्षा में सूचनाओं के हस्तांतरण नहीं होते, बल्कि संज्ञान (कॉगनीशन) के कर्म होते हैं। यह अधिगम की वह स्थिति है, जिसमें संज्ञेय वस्तु (संज्ञान के कर्म का अंत होने के बजाए) संज्ञाताओं के बीच एक माध्यम का काम करती है। संज्ञाताओं में एक ओर शिक्षक होता है, दूसरी ओर छात्र। तदनुसार, समस्या–उठाऊ शिक्षा सबसे पहले शिक्षक–छात्र अंतर्विरोध के समाधान की मांग करती है। अन्यथा संज्ञाताओं के बीच संवादात्मक संबंध नहीं

बन सकते, जो एक ही संज्ञेय वस्तु के बोध में परस्पर सहयोग कर सकने के लिए अनिवार्य हैं।

वास्तव में, समस्या–उठाऊ शिक्षा उन लंबवत सांचों (पैटर्न) को, जो बैंकीय शिक्षा की विशेषता होते हैं, तोड़ कर स्वतंत्रता का व्यवहार करने के अपने काम को तभी पूरा कर सकती है, जब वह उपर्युक्त अंतर्विरोध का समाधान कर सके। संवाद से शिक्षक 'छात्रों का शिक्षक' और छात्र 'शिक्षक के छात्र' नहीं रहते, बल्कि एक नया पद सामने आता हैः छात्र–शिक्षकों के साथ शिक्षक–छात्र के साथ। अब शिक्षक महज वह नहीं रहता है 'जो पढ़ाता है', बल्कि छात्रों से संवाद करते समय स्वयं भी उनसे पढ़ता है। दूसरी तरफ छात्र भी वे नहीं रहते 'जो पढ़ते हैं', बल्कि शिक्षक से संवाद करते समय पढ़ने के साथ–साथ पढ़ाते भी हैं। शिक्षक और छात्र, दोनों उस प्रक्रिया के लिए उत्तरदायी हो जाते हैं, जिसमें सभी की वृद्धि होती है। इस प्रक्रिया में 'अधिकार' पर आधारित तर्कों की कोई वैधता नहीं रहती, क्योंकि यहां अधिकारी को यदि काम करना है तो उसे स्वतंत्रता के विरूद्ध नहीं, बल्कि उसके पक्ष में होना पड़ेगा। यहां न तो कोई दूसरे को शिक्षित करता है, न स्वयं शिक्षित होता है। यहां मनुष्य एक दूसरे को शिक्षित करते हैं और उनके बीच में होता है विश्व, अर्थात् वे संज्ञेय वस्तुएं, जो बैंकीय शिक्षा की अपनी वस्तुएं होती हैं।

बैंकीय अवधारणा में (जिसमें हर चीज़ की दो फांक करने की प्रवषति होती है) शिक्षक के कर्म की दो अवस्थाएं मानी जाती हैं। पहली अवस्था में, जब वह अपने अध्ययन–कक्ष में या प्रयोगशाला में बैंठकर छात्रों के लिए पाठ तैयार करता है, संज्ञेय वस्तु का संज्ञान करता है; दूसरी अवस्था में वह छात्रों के सामने उस वस्तु का प्रतिपादन करता है। छात्रों से यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वे उस वस्तु को जानें, अपेक्षा यह की जाती है कि शिक्षक ने जो बातें बताई हैं, उन्हें याद कर लें। छात्र भी किसी संज्ञान–कर्म का अभ्यास नहीं करते, क्योंकि जिस वस्तु पर यह कर्म होना चाहिए, वह शिक्षक और छात्रों के बीच आलोचनात्मक चिंतन उत्पन्न करने का माध्यम नहीं होती, बल्कि शिक्षक की अपनी संपति होती है। अतः 'ज्ञान और संस्कृति को सुरक्षित रखने' के नाम पर हमें एक ऐसी व्यवस्था मिलती है, जिसमें न तो सच्चा ज्ञान उपलब्ध होता है, न सच्ची संस्कृति।

समस्या–उठाऊ शिक्षा की पद्धति शिक्षक–छात्र की गतिविधि की दो फांक नही करती, क्योंकि शिक्षक एक जगह 'संज्ञानात्मक' और दूसरी जगह 'वर्णनात्मक' नहीं होता। वह हमेशा 'संज्ञानात्मक' होता है, चाहे वह शिक्षा की कोई परियोजना तैयार कर रहा हो या छात्रों से संवाद कर रहा हो। वह संज्ञेय वस्तुओं को अपनी निजी संपति नहीं, बल्कि ऐसी वस्तु समझता है, जिस पर उसे और छात्रों को विचार करना है। छात्र–जो अब दब्बू श्रोता नहीं रहते–शिक्षक से संवाद करते हुए आलोचनात्मक सह–अनुसंधानकर्ता बन जाते हैं। शिक्षक

छात्रों के विचारार्थ सामग्री प्रस्तुत करता है और जब वे उस पर अपने विचार व्यक्त करते हैं, वह उससे संबंधित अपने पूर्ववर्ती विचारों की पुनर्परीक्षा करता है। समस्या–उठाऊ शिक्षक की भूमिका, छात्रों के साथ मिल कर, ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करने की होती है, जिनमें कट्टर विचार ('डोक्सा') के स्तर का ज्ञान तर्क ('लागोस') के स्तर के उच्चतर ज्ञान में बदले।

जहां बैंकीय शिक्षा सृजनात्मक शक्ति को कुंठित और सौंदर्यचेतना को अवरूद्ध करती है, वहां समस्या–उठाऊ शिक्षा में निरंतर यथार्थ का अनावरण होता रहता है। जहां बैंकीय शिक्षा चेतना को डूब की दशा में बनाए रखने की कोशिश करती है, वहां समस्या–उठाऊ शिक्षा चेतना को उभारने तथा यथार्थ में आलोचनात्मक हस्तक्षेप करने का प्रयास करती है।

छात्र ज्यों ज्यों स्वयं को विश्व में और विश्व के साथ रख कर देखने से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का सामना करते हैं, त्यों–त्यों उन्हें उत्तरोतर अधिक चुनौती मिलती है और वे उसका सामना करना अपना कर्तव्य समझने लगते हैं। वे इस चुनौती का सामना केवल एक सैद्धांतिक प्रश्न के रूप में नहीं, बल्कि एक समूचे संदर्भ में अन्य समस्याओं से संबंधित चुनौती के रूप में करते हैं। इसलिए इसके परिणामस्वरूप बनने वाली उनकी समझ उत्तरोत्तर अधिक आलोचनात्मक होती जाती है। उसमें से अलगाव का तत्व निरंतर कम होता जाता है। जब वे इस चुनौती का जवाब देते हैं, उनके सामने नई चुनौतियां आती हैं, जिनसे नई सूझबूझ पैदा होती है; और छात्र धीरे–धीरे स्वयं को प्रतिबद्ध मानने लगते हैं।

स्वतंत्रता का व्यवहार करने वाली शिक्षा–प्रभुत्व का व्यवहार करने वाली शिक्षा के विपरीत–मनुष्य को अमूर्त, अलग–थलग, अकेला और विश्व से असंपृक्त मानने से इनकार करती है। वह विश्व को मनुष्यों से अलग कोई और यथार्थ मानने से भी इनकार करती है। प्रामाणिक चिंतन न तो मनुष्य को अमूर्त्त समझता है, न विश्व को मनुष्यों से रहित समझता है। वह मनुष्यों को विश्व से उनके संबंधों में समझता है। इन संबंधों में चेतना और विश्व, दोनों सहवर्ती होते हैं। चेतना न तो विश्व की पूर्ववर्ती होती है, न उसका अनुसरण करती है। सार्त्र ने लिखा हैः जब व्यक्ति की चेतना सुषुप्त अवस्था में होती है तो उसके लिए बाहरी दुनिया भी सोई होती है। इस तरह चेतना से अलग होकर भी बाहरी दुनिया उससे जुड़ी है। चिली में हमारे एक संस्कृति मंडल में संस्कृति की मानववैज्ञानिक अवधारणा पर चर्चा (एक कोडीकरण के आधार पर) हो रही थी। चर्चा के बीच में ही एक किसान, जो बैंकीय प्रतिमानों के अनुसार परम अज्ञानी था, बोला, ''अब मेरी समझ में आया कि मनुष्य के बिना कोई विश्व नहीं।'' जब शिक्षक ने इसके जवाब में कहा कि ''तर्क के लिए, मान लो, पृथ्वी के सभी मनुष्य मर जाएं, लेकिन पष्थ्वी बची रहे; तमाम पेड़–पौधे, पशु–पक्षी, नदियां, समुद्र, तारे आदि बचे रहें '' तो क्या यह सब विश्व नही होगा?'' किसान ने जोर देकर कहा, ''अरे, नहीं! तब कोई यह कहने वाला ही नहीं होगा कि 'यह विश्व है'।''

किसान यह कहना चाहता था कि उस समय विश्व की चेतना नहीं होगी, जिसमें यह बात अनिवार्य रूप से शामिल है कि तब चेतना का विश्व भी नहीं होगा। 'मैं' का अस्तित्व 'मैं नहीं' के अस्तित्व के बिना संभव नहीं। बदले में 'मैं नहीं' का अस्तित्व भी 'मैं' के अस्तित्व पर निर्भर है। विश्व, जो चेतना को अस्तित्व में लाता है, उसी चेतना का विश्व हो जाता है। अतः सार्त्र की उपर्युक्त बात ठीक है कि : जब व्यक्ति की चेतना सुषुप्त अवस्था में होती है तो उसके लिए दुनिया भी सोई हुई होती है।

मनुष्य स्वयं पर और साथ ही विश्व पर विचार करते हुए जब अपने बोध की परिधि का विस्तार करते हैं, वे उन प्रपंचों को भी देखने लगते हैं, जो पहले उनकी आंखों से ओझल रहते थे। हुस्सेर्ल ने लिखा है:

''बोध में, जिसे एक सुस्पष्ट अभिज्ञा के रूप में बोध कहा जा सके, मैं किसी वस्तु को मसलन काग़ज को ध्यान से देखता हूं। मैं उसे यह, यहां और अब के रूप में समझता हूं। समझना उस प्रत्येक वस्तु को छांट कर अलग करना है, जिसकी अनुभव में एक पृष्ठभूमि होती है। काग़ज के पास और इर्दगिर्द पुस्तकें, पेंसिलें, स्याही की दवात आदि पड़ी हैं, और एक अर्थ में मुझे इनका भी बोध होता है', क्योंकि ये मेरे 'अंतर्ज्ञान के क्षेत्र' में निरंतर मौजूद हैं। लेकिन जब मैंने कागज़ पर ध्यान दिया था, इन चीजों पर ध्यान नहीं दिया था। वे दिखाई तो पड़ी, लेकिन छांट कर अलग नहीं की गई, अपने–आप में कुछ नहीं मानी गई। यदि 'अंतर्ज्ञान की क्रिया' में ध्यान देना पहले से ही शामिल है, तो किसी चीज़ का प्रत्येक बोध ऐसे पार्श्व अंतर्ज्ञानों से अथवा पार्श्व अभिज्ञा के ऐसे क्षेत्रों से संबंधित होगा, बशर्ते कि यह भी एक 'सचेत अनुभव' हो। अथवा, और भी संक्षेप में कहें तो, वस्तुपरक पृष्ठभूमि में, जिसका सहबोध किया जाता है, वास्तव में पड़ी हुई चीज़ों की चेतना हो।

वह, जो वस्तुपरक रूप में मौजूद था, लेकिन गहरे अर्थों में जिसका बोध नहीं किया गया था (यदि सचमुच कोई बोध किया भी गया था तो), अब एक समस्या का रूप लेकर, और इसलिए एक चुनौती बन कर, 'अलग से' दिखाई पड़ने लगता है। इस प्रकार मनुष्य अपनी 'पार्श्व अभिज्ञा' में से उसके तत्वों को अलग करके देखने लगते हैं और उन पर विचार करने लगते हैं। ये तत्व अब मनुष्य के विचार की वस्तु बन जाते हैं, और इस प्रकार, उनके कर्म तथा संज्ञान की वस्तु बन जाते हैं।

समस्या–उठाऊ शिक्षा में मनुष्य यह देखने वाली अपनी आलोचनात्मक बोध–शक्ति का विकास करते हैं कि उस विश्व में, जिसमें और जिसके साथ वे स्वयं को पाते हैं, वे कैसे जीते हैं। वे विश्व को एक स्थिर यथार्थ के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसे यथार्थ के रूप में देखने लगते हैं, जो प्रक्रिया में हैं, जिसका रूपांतरण हो रहा है। हालांकि मनुष्य और विश्व के

द्वंद्वात्मक संबंध इस पर निर्भर नहीं करते कि उनका बोध किस प्रकार किया जा रहा है (या उनका कोई बोध किया भी जा रहा है या नहीं), क्योंकि वे इस बोध से स्वतंत्र होते हैं। लेकिन यह भी सच है कि मनुष्य कर्म का जो रूप अपनाते हैं, वह बड़ी हद तक इस पर निर्भर होता है कि वे विश्व में स्वयं को किस प्रकार देखते हैं। अतः शिक्षक छात्र और छात्र–शिक्षक एक ही साथ स्वयं और विश्व पर विचार करते हैं और ऐसा करते समय वे चिंतन और कर्म को अलग नही करते। इस प्रकार वे चिंतन और कर्म के एक प्रामाणिक रूप की स्थापना करते हैं।

यहां एक बार फिर, शिक्षा की वे दोनों अवधारणाएं और उनके व्यवहार, जिनका हम विश्लेषण कर रहे हैं, आपस में टकराते हैं। बैंकीय शिक्षा (स्पष्ट कारणों से) यथार्थ के मिथकीकरण द्वारा उन तथ्यों को छिपाने की कोशिश करती है, जिनसे पता चलता है कि मनुष्य विश्व में कैसे जीते हैं, जबकि समस्या–उठाऊ शिक्षा का उद्देश्य मिथकों को हटा कर यथार्थ को सामने लाना है। बैंकीय शिक्षा संवाद को रोकती है; जबकि समस्या–उठाऊ शिक्षा संज्ञान के कर्म के लिए, जो यथार्थ का अनावरण करता है, संवाद को अपरिहार्य मानती है। बैंकीय शिक्षा छात्रों को सहायता की वस्तु मानती है; जबकि समस्या–उठाऊ शिक्षा उन्हें आलोचनात्मक ढंग से सोचने वाला बनाती है। बैंकीय शिक्षा सृजनात्मकता को निरूद्ध करती है तथा चेतना का विश्व से अलगाव करके चेतना की संकल्पशीलता को पालतू बनाती है (हालंकि वह उसे पूरी तरह नष्ट नहीं कर सकती) और ऐसा करके वह मनुष्यों के पूर्णतर मनुष्य बनने के सत्तामूलक तथा ऐतिहासिक कर्तव्य को नकारती है। समस्या–उठाऊ शिक्षा सृजनात्मकता को अपना आधार बनाती है तथा यथार्थ पर सच्चा चिंतन और कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार मनुष्यों के पूर्णतर मनुष्य बनने के कर्तव्य में वह सहायक होती है। कारण यह है कि मनुष्य जिज्ञासा और सृजनात्मक रुपांतरण में संलग्न होने पर ही प्रामाणिक मनुष्य बन सकते हैं। कुल मिला कर बैंकीय सिद्धांत और व्यवहार जड़ता तथा स्थिरता की शक्तियों के रूप में मनुष्यों को ऐतिहासिक प्राणी मानने में असफल रहते हैं; जबकि समस्या–उठाऊ सिद्धांत और व्यवहार मनुष्य की ऐतिहासिकता को अपना प्रस्थान–बिंदु मानते हैं।

समस्या–उठाऊ शिक्षा मनुष्यों को ऐसे प्राणी मानती है, जो 'संभवन' की प्रक्रिया में है। अर्थात् वे अभी अधूरे हैं, अपूर्ण हैं, और ऐसे यथार्थ के अंदर तथा उसके साथ रहते हैं, जो उन्हीं की तरह अधूरा और संभव होता हुआ यथार्थ है। यह सच है कि अन्य प्राणी भी अधूरे हैं, लेकिन वे ऐतिहासिक नहीं हैं। मनुष्य ऐतिहासिक प्राणी है, जो अपने अधूरेपन को जानते है; अपनी अपूर्णता को समझते हैं। शिक्षा, जो नितांत मानवीय चीज़ है, इस अपूर्णता और इस अभिज्ञा से ही आरंभ होती है। मनुष्यों के अधूरे चरित्र और यथार्थ के रूपांतरणशील चरित्र के कारण ही यह आवश्यक होता है कि शिक्षा सतत चलती रहने वाली एक गतिविधि हो।

इस प्रकार शिक्षा आचरण (व्यवहार) में निरंतर पुनर्निमित होती है। स्वत्व के लिए उसका संभवन अनिवार्य है। इसकी 'अवधि' (बर्गसां ने जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है, उस अर्थ में) स्थायित्व और परिवर्तन के विरूद्धों की अन्योन्यक्रिया में पाई जाती है। बैंकीय पद्धति स्थायित्व पर जोर देती है और प्रतिक्रियावादी हो जाती है; जबकि समस्या–उठाऊ शिक्षा–जो न तो 'सभ्य–शिष्ट' वर्तमान को स्वीकार करती है, न पूर्वनिश्चित भविष्य को–स्वयं को गतिशील वर्तमान से जोड़ती है और क्रांतिकारी बन जाती है।

समस्या–उठाऊ शिक्षा क्रांतिकारी भविष्यता है। अतः यह भविष्यसूचक है (अतएव आशावादी है) और मनुष्य की ऐतिहासिक प्रकृति से मेल खाती है। यह इस बात की अभिपुष्टि करती है कि मनुष्य स्वयं के पार जाते हैं, आगे देंखते हैं और आगे बढ़ते हैं। जड़ता उनके लिए मृत्यु के समान है। अतीत की ओर देखना उनके लिए यह समझने का साधन है कि वे क्या हैं और कौन हैं, ताकि इसे अधिक स्पष्टता के साथ समझ कर वे और ज्यादा समझदारी के साथ भविष्य का निर्माण कर सकें। अतः यह शिक्षा उस आंदोलन से अपना तादात्म्य कायम करती है, जिसमें मनुष्य अपने अधूरेपन को जानने वाले और उसे दूर करने का प्रयास करने वाले प्राणियों के रूप में संलग्न होते हैं। वह एक ऐतिहासिक आंदोलन होता है, जिसका एक प्रस्थान–बिंदु होता है, जिसके कर्ता होते हैं, और जिसका एक उद्देश्य होता है।

इस आंदोलन का प्रस्तान–बिंदु स्वयं मनुष्य होते हैं। लेकिन मनुष्य चूंकि विश्व से अलग नहीं रहते, यथार्थ से अलग नहीं रहते, इसलिए इस आंदोलन का आरंभ मनुष्य–विश्व संबंध से होना आवश्यक है। तदनुसार, इसका प्रस्थान बिंदु हमेशा 'आज और अभी' के मनुष्य होने चाहिएं, क्योंकि उनसे ही वह स्थिति बनती है, जिसमें वे डूबे हुए होते हैं, जिसमें से उन्हें ऊपर उठना होता है और जिसमें वे हस्तक्षेप करते हैं। इस स्थिति से आरंभ करके ही–जो यह भी निश्चित करती है कि वे इसका बोध कैसे करते हैं – वे आगे बढ़ना शुरू करते हैं। उनकी यह शुरूआत प्रामाणिक हो, इसके लिए आवश्यक है कि वे अपनी दशा को नियतिबद्ध और अपरिवर्तनीय दशा के रूप में न देखकर, बल्कि स्वयं को सीमित करने वाली दशा के रूप में ही देखें–और उसे एक चुनौती के रूप में स्वीकार करें।

जहां बैंकीय पद्धति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मनुष्यों को अपनी स्थिति के प्रति भाग्यवादी बनाती है, वहां समस्या–उठाऊ पद्धति उसी स्थिति को उनके सामने एक समस्या के रूप में प्रस्तुत करती है। ज्यों ही उनकी स्थिति उनके संज्ञान (बोध) की वस्तु बनने लगती है, त्यों ही उन्हें भाग्यवादी बनाने वाला भोला या जादुई किस्म का बोध दूर होने लगता है और यथार्थ का ऐसा बोध उसकी जगह लेने लगता है, यथार्थ की ही भांति स्वयं अपने को भी जानने में

समर्थ होता है, और इस प्रकार यह बोध यथार्थ के प्रति आलोचनात्मक ढंग से वस्तुपरक हो सकता है।

अपनी स्थिति की गहरी चेतना उस स्थिति को ऐसे ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में समझने में मनुष्यों को समर्थ बनाती है, जिसका रूपांतरण हो सकता है। इस बोध के कारण आत्मसमर्पण की भावना की जगह उनमें रूपांतरण तथा अन्वेषण की प्रेरणा उत्पन्न होती है, उनको महसूस होता है कि इस पर उनका नियंत्रण है यदि मनुष्य ऐतिहासिक प्राणी के रूप में अन्य मनुष्यों के साथ अन्वेषण के आंदोलन में संलग्न हों और वह आंदोलन उनके नियंत्रण में न हो, तो यह उनकी मनुष्यता के विरूद्ध होगा (और है)। ऐसी कोई भी स्थिति, जिसमें कुछ मनुष्य अन्य मनुष्यों को अन्वेषण की प्रक्रिया में संलग्न होने से रोकते हों, हिंसा की स्थिति है। इसमें यह महत्वपूर्ण नहीं है कि कौन से साधन इस्तेमाल किए जाते हैं; महत्वपूर्ण यह है कि मनुष्यों को अपने निर्णय स्वयं लेने की क्षमता से वचिंत कर देना उन्हें वस्तुओं में बदल देना है; और यह हिंसा है।

अन्वेषण के इस आंदोलन का लक्ष्य मानुषीकरण होना चाहिए, जो मनुष्य का ऐतिहासिक कर्तव्य है। लेकिन पूर्ण मनुष्यता प्राप्त करने का प्रयास अकेले–अकेले या व्यक्तिवादी ढंग से नहीं किया जा सकता। इसलिए उत्पीड़कों और उत्पीड़ितों के शत्रुतापूर्ण संबंधों में यह प्रयास सफल नहीं हो सकता। कोई भी तब तक प्रामणिक रूप से मानवीय नहीं हो सकता, जब तक वह दूसरों को मनुष्य बनने से रोकता है। व्यक्तिवादी ढंग से अधिक मानवीय बनने का मतलब है स्वार्थपूर्ण ढंग से अधिक का स्वामी बनना, जो अमानुषीकरण का ही एक रूप है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मानवीय वही हो सकता है, जिसके पास कुछ न हो। मानवीय होने के लिए मनुष्यों को बहुत कुछ का स्वामी होना चाहिए, लेकिन इसीलिए ऐसा नहीं होना चाहिए कि कुछ लोगों का स्वामित्व दूसरों के स्वामित्व में बाधक बने। ऐसा नहीं होना चाहिए कि कुछ लोग, जो अधिक के स्वामी हैं, बहुत से लोगों को कुचलने की शक्ति को बढ़ाने के लिए अपने स्वामित्व को बढ़ाएं और दूसरों के स्वामित्व में बाधक बनें।

समस्या–उठाऊ शिक्षा एक मानववादी तथा मुक्तिदाई आचरण के रूप में इस बात को आधारभूत मान कर चलती है कि प्रभुत्व के अंतर्गत दबे कुचले मनुष्यों को अपनी मुक्ति के लिए अवश्य लड़ना चाहिए। इसी उद्देश्य से यह शिक्षा शिक्षकों और छात्रों को इस योग्य बनाती है कि वे अधिकारवाद और अलगाव पैदा करने वाले बुद्धिवाद पर विजय पाकर शैक्षिक प्रक्रिया के कर्ता बनें। यह शिक्षा मनुष्यों को इस योग्य भी बनाती है कि वे यथार्थ के अपने मिथ्या बोध पर विजय पाएं। इस शिक्षा के कारण विश्व प्रवंचनापूर्ण शब्दों में वर्णन करने की वस्तु नहीं रह जाता, बल्कि मनुष्यों के उस रूपांतरकारी कर्म की वस्तु बन जाता है, जिसके परिणामस्वरूप उनका मानुषीकरण होता है।

lk/kkuea=h dk'ky fodkl ;kstuk % ,d utj

jkt'kh vxzoky

केन्द्रीय श्रम एवं रोजगार मंत्रालय द्वारा प्रदत आंकडों के अनुसार भारत में हर साल 13 मिलियन से ज्यादा युवा काम करने वाली उम्र में प्रवेश करते हैं। आईटीआई संस्थानों, पोलिटेक्निकों, स्नातकों, कॉलेजों, प्रोफेशनल कॉलेजों आदि में प्रशिक्षण और शैक्षणिक क्षमताओं को जोड़कर देखें तो ज्ञात होता है कि देश की वर्तमान वार्षिक प्रशिक्षण क्षमता कुल 3 मिलियन है। इस प्रकार प्रशिक्षण प्राप्त करने के योग्य युवाओं और प्रतिवर्ष प्रशिक्षण प्रदान करने की देश की वर्तमान क्षमता के बीच लगभग 10 मिलियन का फासला है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्रशिक्षण प्रदान करने की मौजूदा संरचना के तहत इन संस्थानों में किसी व्यक्ति के प्रशिक्षण पर 1 से 4 साल तक लग जाते हैं। इसलिए भले ही तेजी से क्षमता निर्माण के लिए प्रशिक्षण प्रदान करने की होड़ लगी हो, इसकी गति प्रतिवर्ष काम करने वाली उम्र में प्रवेश करने वाले युवाओं की तुलना में बहुत कम है। ऐसे में 10 मिलियन से अधिक की इस खाई को पाटना बहुत मुश्किल काम है। इस मुद्दे पर ध्यान देना भारत की बहुसंख्यक आबादी की क्षमता को साकार करने के लिए महत्वपूर्ण है।

उपरोक्त संदर्भ के मद्देनजर ही भारत सरकार ने भारत में कौशल विकास एवं उद्यमिता मंत्रालय का गठन किया गया है जिसने प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना (पीएमकेवीवाई) नामक प्रमुख कौशल विकास योजना की शुरुआत की है, ताकि भारत में कौशल विकास पर आधारित योग्यताओं को नई गति प्रदान की जा सके। इस कौशल विकास प्रमाणीकरण और पुरस्कार योजना का उद्देश्य परिणाम आधारित कौशल प्रशिक्षण लेने के लिए, भारतीय युवाओं की एक बड़ी संख्या को सक्षम और एकजुट करना है, ताकि उन्हें रोजगार और आजीविका मिल सके। यह योजना प्रशिक्षण संस्थानों पर आधारित योग्यताओं पर चलने वाले उद्यमों और प्रशिक्षण आधारित योग्यताओं की कमी के कारण बाजार में असफल होने वाले उद्यमों के लिए है।

इस परियोजना की शुरुवात 15 अगस्त 2015 को विश्व युवा कौशल दिवस के अवसर पर माननीय प्रधानमंत्री द्वारा की गई थी। योजना के पहले वर्ष (2015–2016) को इस योजना के नींव को पुख्ता बनाने और आधारभूत ढ़ाचा तैयार करने के लिए इस्तेमाल किया गया। तब से यह योजना नियोत्ताओं, विशेष रुप से अनौपचारिक क्षेत्र के लिए कुशल जनशक्ति निर्माण का एक प्रमुख स्रोत रहा है।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन द्वारा वर्ष 2011–12 के लिए आयोजित रोजगार और बेरोजगारी सर्वेक्षण (ईयूएस) के अनुसार अनौपचारिक घटक में अनुमानित रोजगार ग्रामीण इलाकों में कुल सामान्य रोजगार (प्रमुख एवं सहायक) का लगभग 75 प्रतिशत और शहरी इलाकों में 69 प्रतिशत था। अनौपचारिक रोजगार के आंकड़े काफी ज्यादा होने की संम्भावना है, क्योंकि उद्यमों को ''नियोक्ता के घर'' के रुप में चिहिन्त किया गया है, जिन्हें घरेलू सेवाओं के प्रावधान के लिए रोजगार को अनौपचारिक क्षेत्र की परिभाषा से बहार रखा गया है।

पीएमकेवीवाई की अनौचारिक क्षेत्र में उत्पादकता को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका है, जोकि कुशल कार्यबल के लिए उद्योग और राष्ट्रीय कौशल योग्यता फ्रेमवर्क (एनएसक्यूएफ) के बीच एक पूल के निर्माण का कार्य करता है। पीएमकेवीवाई (2016–2020) के तहत कम से कम 70 प्रतिशत सफलतापूर्वक आकलित प्रशिक्षुओं को मजदूरी सहित रोजगार प्रदान करना इसका लक्ष्य है। यह योजना आवश्यक प्लेसमेंट मानदड़ों के लिए प्रशिक्षण प्रदाताओं को प्रोत्साहन राशि भी प्रदान करती है। प्रमुख कौशल विकास योजना होने के नाते, उत्पादकता बढ़ाने के लिए एनएसक्यूएफ मानकों वाले उद्यमों को प्रशिक्षण कुशल जनशक्ति का भंडार उपलब्ध कराना इस योजना का मुख्य प्रभाव है।

पीएमकेवीवाई प्रशिक्षण इकोसिस्टम में कार्य भूमिकाओं की महत्वपूर्ण संख्या रही है, जोकि आसानी से सूक्ष्म उद्यमों के लिए स्वयं को उपलब्ध कराती है। पीएमकेवीवाई में प्रशिक्षण के लिए ऐसी कार्य भूमिकाओं के उदाहरणों में स्वरोजगार दर्जी, हाथ कढ़ाई, छोटे पोल्ट्री किसान, ई–रिक्शा चालक और तकनीशियन, बढ़ई, सिलाई ऑपरेटर (आंशिक रुप से देश भर में पारंपरिक समूहों में) आदि शामिल हैं। कुशल और योग्य पीएमकेवीवाई प्रशिक्षार्थी द्वारा नए लघु उद्योगों का निर्माण इसी का परिणाम है। अर्बन क्लैप, हाउसजॉय जैसे मार्किट एग्रीगेटर्स पर आधारित नए मोबाइल ऐप चुनिंदा व्यापारों में उपलब्ध स्व–रोजगार के अवसर के लिए एक नया प्रोत्साहन प्रदान करते हैं।

योजना के राज्य स्तरीय घटक के रूप में, राज्य कौशल विकास मिशन ने संबंधित राज्यों के शिल्पकारों और हस्तकला समूहों को पारंपरिक तरीके से प्रशिक्षण के लिए भी प्रोत्साहित किया है। देश की पांरपरिक कला और शिल्प की विरासत के संरक्षण के लिए नई पीढ़ी के कुशल कारीगरों और शिल्पकारों का निर्माण एक बहुत ही जटिल कार्य है। चिकनकारी, हस्तनिर्मित खेल के समान आदि पर प्रशिक्षण जैसे पायलटों को पीएमकेवीवाई योजना के तहत पहले ही चुना जा चुका है।

पीएमकेवीवाई के तहत रिकाग्निशन टू प्रायर लर्निंग (आरपीएल) अर्थात 'पहले से सीखे हुए को मान्यता' शीर्षक घटक अनौपचारिक क्षेत्र के मजूदरों की आकलित और प्रमाणित

कौशल पर मुख्य रूप से केंद्रित है। मूल्यांकन के माध्यम से व्यापारिक प्रशिक्षित कौशल का आकलन और प्रमाणीकरण औपचारिक क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि के गतिशील विकल्पों के माध्यम से प्रशिक्षुओं में मदद करता है। कुछ मामलों में, यह पाया गया है कि आरपीएल प्रमाणीकरण ने मजदूरों को बेहतर मजदूरी के लिए बातचीत करने में मदद की और उनके कैरियर में आगे बढ़ने के लिए संभावनाओं के द्वार खोले हैं। लगभग सभी मामलों में, प्रशिक्षुओं ने आत्म–विश्वास का प्रदर्शन किया और कौशल प्रमाणपत्रों पर गर्व जाहिर किया।

जहां इस योजना के पहले साल ने कार्यक्रम की आधारशिला के निर्माण के अवसर प्रदान किए, वहीं इससे कुछ सबक भी निकलकर सामने आए। इस प्रकार, जब केंद्रीय मंत्रिमंडल ने देश के 1 करोड़ युवाओं को कौशल विकास प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए 12,000 करोड़ रूपए के साथ अगले चार सालों के लिए योजना (2016–2020) को मंजूरी दी, तो यह महसूस किया गया कि इस योजना के विस्तार को तीन प्रमुख स्तंभों पर आधारित होना चाहिए :

1. प्रशिक्षण के बुनियादी ढ़ाचे के मानकीकरण और प्रशिक्षण केन्द्रों के लिए स्पष्ट गुणवता मानक
2. अंतिम परिणाम के एक उपाय के रूप में नियुक्तियों पर अनवरत फोकस
3. उद्देश्यमूलक और प्रक्रिया आधारित निर्णय लेने के ढांचें के माध्यम से पारदर्शिता में वृद्धि

उपरोक्त तीन प्रमुख स्तंभों के आधार पर पीएमकेवीवाई (2016–2020) के लिए सुधरे हुए मानकों को लागू किया जाएगा :

1. प्रशिक्षण केन्द्रों की एक्रीडिटेशन और मान्यता

प्रशिक्षण केन्द्रों की एक्रीडिटेशन और मान्यता की नई प्रक्रिया प्रशिक्षण प्रदाताओं का ध्यान प्रशिक्षण केंद्रों की ओर खींचेगी। सेक्टर स्किल काउंसिल्स विस्तृत बुनियादी ढ़ाचे के दिशा–निर्देशों के आधार पर बनाए जाएंगे, जो निरीक्षण के अधीन होंगे। एक्रीडिटेशन का निर्णय प्रशिक्षण केंद्रों की रेंटिग और ग्रेडिंग पद्धति पर आधारित होगा। संबंधित सेक्टर स्किल काउंसिल्स स्वीकृति रोजगार भूमिका के लिए प्रशिक्षण केंद्र को प्रमाणीकरण प्रदान करेगा। इस प्रक्रिया में बड़े पैमाने पर निरीक्षण और आत्म–रिपोर्टिग ऐप्स के माध्यम से प्रौद्योगिकी से लबरेज होगी। इस प्रक्रिया की सहायता के लिए एक समर्पित ऑनलाइन पार्टल (smartnsdc.org) भी विकसित किया जाएगा।

2. कोर्स की सामग्री का मानकीकरण

सेक्टर स्किल काउंसिल्स पीएमकेवीवाई (2016–2020) के तहत निर्धारित प्रशिक्षणों के लिए मॉडल सामग्री पाठ्यक्रम का प्रकाशन करेगा, जिससे पाठ्य पुस्तकों की गुणवत्ता के मानक सुनिश्चित किए जा सकेंगे। एक मानकीकृत प्रस्तावना किट प्रशिक्षण के दौरान सभी प्रशिक्षुओं को दी जाएगी।

3. प्रशिक्षकों का अनिवार्य प्रशिक्षण

संबंधित सेक्टर स्किल काउंसिल्स में 'ट्रेन द ट्रेनर' के तहत प्रशिक्षकों का प्रशिक्षण अनिवार्य होगा।

4. विशिष्ट नामांकन और आधार आधारित उपस्थिति प्रणाली

बैच निर्माण के समय सभी प्रशिक्षुओं के आधार आईडी की मान्यता जांची जाएगी, जिससे फर्जी नामांकनों से बचाव होगा। पीएमकेवीवाई के तहत आधार कार्ड सक्षम बायोमेट्रिक उपस्थिति प्रणाली (एईबीएएस) के जरिए उपस्थिति अनिवार्य होगी। पूर्वोतर और जम्मू–कश्मीर के चुने हुए राज्यों में, जहां आधार की उपस्थिति अभी कम है, प्रशिक्षण प्रदाताओं के लिए बायोमेट्रिक उपकरण से उपस्थिति अनिवार्य है।

5. आकलन के लिए मोबाइल ऐप

साक्ष्य आधारित आकलन के लिए एक नया मोबाइल ऐप विकसिल किया जा रहा है। यह माना गया है कि उपरोक्त पहलकदमी बेहतर प्रशिक्षण परिणामों को सामने लाएगी, जो अंततः प्लेसमेंट की मात्रा और गुणवता में जाहिर होगा। इस योजना के तहत प्रशिक्षण के बाद 70 प्रतिशत मजदूरी वाले रोजगार अनिवार्य बना दिए जाएंगे और प्रशिक्षण प्रदाताओं को उसके अनुसार प्रोत्साहन दिया जाएगा।

पीएमकेवीवाई बड़े पैमाने पर और निर्धारित गुणवता पर योग्यता आधारित प्रशिक्षण प्रदान करने में कुछ महत्वपूर्ण कदम उठा रहा है। यह भारतीय कार्यबल, विशेषकर अनौपारिक क्षेत्र में काम करने वाले लोगों के नजरिए, ज्ञान और कौशल में सफलतापूर्वक वृद्धि कर रहा है। इसलिए इस योजना में स्नातकों जैसे कुछ उच्च शिक्षार्थी क्षेत्रों के लिए कटिंग एज कौशल पर लंबी अवधि के प्रशिक्षण शामिल किए जाने की भी संभावना है। समय के साथ, यह योजना मौजूदा और भविष्य में रोजगार इकोसिस्टम के लिए एक व्यापक और समग्र कार्यबल प्रदान करेगी।